अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श

लेखकः

डा० सुलेखचन्द्र शर्मा

एम०ए०, (हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी-उर्दू) पीएच० डी०

साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ,

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

देशबन्धु कालेज (सांध्य) (दिल्ली वि०वि०)

कालकाजी, नयी दिल्ली-११००१९

प्रकाशिका

देववाणी-परिषद्, दिल्ली

६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

(भारतम्)

अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में
साधारणीकरण-विमर्श (काव्यशास्त्रीय समीक्षा)

लेखक: : डा० सुलेखचन्द्र शर्मा

प्रकाशिका : देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

मुद्रक: : देववाणी प्रिण्टर्स
उत्तम नगर, नयी दिल्ली-११००५९

संस्करणम् : प्रथमम्, १९८३

मूल्यम् : पञ्चाशत् रूप्यकाणि] रु० ५०.००

828.9
शर्मा

Abhinavottara Samskrita Kavyasastra Men
Sadharanikarana-Vimarsa (Literary Criticism)

Author : Sharma, Dr. Sulekh Chandra

Publisher : Devavani Parishad, Delhi
6, Vani Vihar, New Delhi-110059

Printer : Dev Vani Printers
Uttam Nagar, New Delhi-110059

Edition : First, 1983

Price : Rupees Fifty only Rs. 50-00

प्रास्ताविकम्

'देववाणी-परिषद्, दिल्ली'-संस्थायाः सद्ग्रन्थप्रकाशनरूपमप्येकमुद्देश्यमस्ति। तदनुसारमद्यावधि परिषदा इमे संस्कृतभाषानिबद्धा ग्रन्थाः प्रकाशिता-(१) **सुगमरामायणम्** (आचार्यश्रीरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं महाकाव्यम्) (२) **श्रीकृष्णचरितम्** (आचार्यश्रीरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं महाकाव्यम्) (३) **कर्णभूषणम्** (डा० सी० आर० स्वामिनाथ-कृतं नाटकशोकगीतिप्रबन्धात्मकं रचनात्रयम्) (४-६) **अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः** (डा० रमाकान्तशुक्लसम्पादितः खण्डत्रयात्मकः समीक्षाग्रन्थः) (७) **हरविजयस्य साहित्यिकमध्ययनम्** (डा० कृष्णकान्तशुक्ललिखितम्) (८) **श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम्** (डा० हरिनारायणदीक्षितरचितं गद्यकाव्यम्) (९) **भाति मे भारतम्** (डा० रमाकान्त शुक्लप्रणीतं काव्यम्) (१०) **भारतस्वातन्त्र्यसङ्ग्रामेतिहासः** (डा० रमेशचन्द्रशुक्लकृतः) (११) **सदाशयसमुच्चयः** (श्री टी० वी० परमेश्वरअय्यरप्रणीतः) (१२) **आभाणकमञ्जरी** (श्री टी० वी० परमेश्वरअय्यरप्रणीता) (१३) **देववाणीदर्शनम्** (डा० रमेशचन्द्रशुक्लादिसम्पादितम्) (१४) **जय भारतभूमे !** (डा० रमाकान्तशुक्लप्रणीतं काव्यम्) (१५) **राधाकृष्णरसायनम्** (श्री ओट्टूर-उण्णिनम्बूदिरीपादरचितं भक्तिकाव्यम्) (१६) **अभिनवहनुमन्नाटकम्** (आचार्यरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं संस्कृतनाटकम्) (१७) **अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यपरिचयः** (प्रथम खण्डः) (डा० रमाकान्तशुक्लसम्पादितः), (१८) **पूर्णकुम्भः** (पण्डितविष्णुकान्तरचितो ललितनिबन्धसंग्रहः) (१९) **स्फूर्तिसप्तशती** (डा० शिवदत्तशर्मचतुर्वेद प्रणीता) (२०) **साहित्यकौतुकम्** (पं० टी० वी० परमेश्वरअय्यरप्रणीत काव्यम्) (२१) **श्रीबदरीशसुप्रभातम्** (डा० सी०आर० स्वामिनाथकृतम्), (२२) **रसदर्शनम्** (आचार्यरमेशचन्द्रशुक्लकृतः काव्यशास्त्रीयः प्रबन्धः) च। परिषदा हिन्द्यां रचिताः संस्कृतसाहित्यपरका इमे ग्रन्था अपि प्रकाशिताः :—(२३-२५) **'मेघदूत : एक विश्लेषण', 'रघुवंश : एक विश्लेषण', 'अभिज्ञानशाकुन्तल : एक विश्लेषण', 'कालिदास की कला और संस्कृति (भाग-२)'** (ले० डा० देवीदत्त शर्मा) तथा: (२६) **'साधारणीकरण और समानान्तर चिन्तन की पूर्वपीठिका'** (ले० डा० सुलेखचन्द्र शर्मा), (२७) **भट्टनायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरणविषयक अवधारणा** (डा० सुलेखचन्द्र शर्मा) (२८) **संस्कृत साहित्य में राष्ट्रियभावना** (प्रथम खण्ड) (डा० हरिनारायण दीक्षित)। एतेषु १, २, ९, १०, १४, २५ संख्यका ग्रन्था उत्तरप्रदेशसंस्कृताकादम्या पुरस्कृता अपि सन्ति।

इदानीञ्च परिषदियम् एम०ए० (संस्कृत-अंग्रेजी-हिन्दी-उर्दू)-पीएच० डी०-साहित्याचार्य-काव्यतीर्थ-प्रभृत्युपाधिभूषितैः दिल्ली-विश्वविद्यालयस्याङ्गभूते सान्ध्ये देशबन्धुकालेजे हिन्दी-विभागप्राध्यापकपदमलङ्कुर्वद्भि किञ्च स्व आजीवनसदस्यैःविद्वद्वरसुलेखचन्द्रशर्म-महाभागैर्हिन्दीमाध्यमेन लिखितम् **'अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श'** इत्याख्यं सद्ग्रन्थं प्रकाशयन्ती हर्षमनुविन्दति । इतः पूर्वं डॉ० शर्ममहाभागलिखितं **'साधारणीकरण और समानान्तर चिन्तन की पूर्वपीठिका:'**, **'भट्टनायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा'**-इत्याख्यं साधारणीकरण-विषयकं ग्रन्थद्वयमपि परिषदा प्रकाशितमस्तीति नाविदितं विदुषाम् ।

अस्मिन् ग्रन्थे डा० शर्ममहाभागैः भारतीयकाव्यशास्त्रस्य सुप्रसिद्धं सिद्धान्तं 'साधारणीकरणं' विषयीकृत्य विचारविमर्शः कृतः । साधारणीकरण-सिद्धान्तस्य बीजं तु भट्टनायकाभिनवगुप्तपादाचार्याभ्यां पूर्वमेव भारतीय चिन्तने द्रष्टुं शक्यते । तस्य सविस्तरं पल्लवनमाभ्यामाचार्याभ्यां कृतम् । भट्टनायकाभिनवगुप्तपादाभ्यां प्रतिष्ठापितानां साधारणीकरणविषयकाणां सिद्धान्तानां परवर्तिभिः संस्कृतसाहित्यशास्त्रिभिः पुनराख्यानं, समीक्षणं परिवर्धनं च कृत्वा तत्र स्वरुचिः प्रदर्शिता । एतेषु विश्वनाथ-पडितराज-जगन्नाथ-धनञ्जय-भोजराज-शिंगभूपाल-प्रभृतयोऽनेके आचार्याः सन्ति येषां साधारणीकरण-विषयकं चिन्तनमस्मिन् ग्रन्थे विदुषा लेखकेन परीक्षितम् । साधारणीकरणविषये विशशताब्द्याः नैकैः संस्कृतकाव्यशास्त्रविवेचकैराचार्यैः ये ये सिद्धान्ताः प्रस्तुतास्तेषामप्यत्र विवेचनं लभ्यते ।

आशासे, हिन्दीभाषामाध्यमेन संस्कृतसाहित्यशास्त्रमवगाहितुकामाः पाठका अनेन ग्रन्थरत्नेन लाभान्विता भविष्यन्ति । अस्माभिरुपरिसङ्केतितं डा०शर्मकृतग्रन्थद्वयमस्य ग्रन्थस्याध्ययने सौकर्यं जनयिष्यतीति हेतोः पाठकास्तदवलोकनार्थंमनुरुध्यन्ते ।

डा० शर्ममहाभागाः स्वसारस्वतसाधनायै समभिनन्द्यन्ते । कृपालवः पाठकाः कुत्रचिज्जाताः मुद्रणत्रुटीः संशोधयितुं सविनयं प्रार्थ्यन्ते ।

५ जून १९८३
६, वाणी-विहारः,
नयी दिल्ली-११००५९

विदुषामाश्रवः
रमाकान्त शुक्लः
महासचिवः,
देववाणी-परिषद्, दिल्ली

भूमिका

परिवर्तित युगबोध एवं परिवेश के अनुरूप काव्यानुभूति के अनेकायामी व्यक्तित्व को समाहित एवं व्याख्यायित करने के लिए साधारणीकरण की अपेक्षाकृत गतिशील एवं व्यापकतर अवधारणाएँ अपेक्षित हैं। इस परिप्रेक्ष्य में भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की पूर्वप्रतिष्ठापित अवधारणाओं का परवर्ती चिन्तन-क्रम में परिष्कार एवं पुनर्मूल्यांकन तो हुआ ही, प्रमातृगत संवेदनाओं के समानान्तर वर्तमान सर्जनात्मक संभावनाओं के अनेक व्याख्या-सूत्र भी उपलब्ध हुए हैं। रागोद्रिक्त ऐन्द्रिय चेतना से लेकर मनन-चिन्तन एवं आध्यात्मिक अनुभूति के विविध अनुषंगों को समाहित करती हुई ये अवधारणाएँ नव्य काव्यालोचन की सहृदय-परिकल्पना को भी नये आयाम दे सकी हैं। विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ तो स्पष्टतः तादात्म्य (साधारण्याभिमान) एवं भावनादोष की विशिष्ट अवधारणाओं के कारण ऐतिहासिक महत्त्व के अधिकारी हैं। विश्वनाथ ने यदि सामाजिक की ससीम मानसिकता में निःसीम चेतना की ओर अग्रसर होने की संभावना व्यक्त की तो पंडितराज ने निषेध मूलक भूमिका पर इस अवधारणा को अतिरिक्त दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक आयाम दिया।

इसी परंपरा में धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र शारदातनय, विद्यातनय एवं रूपगोस्वामी ने इस अवधारणा के विवादास्पद संदर्भों के प्रसंगानुरूप समाधान प्रस्तुत किये हैं, जो वर्तमान सर्जनात्मक अन्तश्चेतना के समानान्तर इस का औचित्य सिद्ध करते हैं। भोज और महिमभट्ट ने साधारणीकरण का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, फिर भी प्रकारान्तर से अन्तर्भावन एवं अन्तःप्रतिबिम्बन के व्याख्याक्रम में साधारणीकरण के अनेक अनालोचित पक्षों का उद्घाटन किया है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में रस-शास्त्र विषयक ग्रन्थों की भी दीर्घ परम्परा है जिनमें शिंगभूपाल, प्रभाकर भट्ट, विश्वेश्वर आदि की उद्भावनाओं में मौलिकता का उन्मेष दिखाई देता है। इतर आचार्यों ने भी राग और विवेक की संवादी-विसंवादी भूमिका पर इस अवधारणा को व्याख्यायित किया है।

परम्परा के पुनरन्वेषण के स्तर पर इन व्याख्याओं का निजी मूल्य है। रस-शास्त्रेतर ग्रन्थों में भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में इस अवधारणा का विवेचन हुआ है। अभिव्यंजना एवं काव्यबोध के अन्तःसम्बन्ध तथा श्रव्य एवं दृश्यानुभूति के विविध आयामों पर इनसे प्रकाश पड़ता है। राजशेखर, कुन्तक, क्षेमेन्द्र आदि ने इस अवधारणा का स्पष्ट विवेचन न करते हुए भी सहृदय की अनुभूति एवं परिकल्पना के अनेक अनुपेक्षणीय अन्त-सूत्र दिये हैं। अनेक आचार्यों ने साधारणीकरण का विवेचन किया है किन्तु वे चिन्तन के कोई नवीन क्षितिज उद्घाटित नहीं कर सके। फिर भी अपनी प्रतिबद्धता एवं आस्थाकेन्द्र के आलोकन तथा विविध अभिमतों के समीकरण-सामंजस्य के स्तर पर उनके अभिमत भी विवेच्य हैं। साधारणीकरण के अन्तर्वर्ती संदर्भों की व्याख्या एवं मूल्यांकन के स्तर पर इन सभी अभिमतों में अनेक मूल्यवती अभिज्ञताएँ निहित हैं जो आधुनिक प्रगतिकामी चिन्तन को भी गति दे सकती है। प्रकारान्तर से संस्कृत आलोचना की निरन्तर गतिशील चेतना के उद्घाटन का भी यह उपक्रम है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र ने एक सुनिश्चित नैरन्तर्य के माध्यम से अपनी अस्मिता का अन्वेषण किया है। साधारणीकरण की अवधारणा का गतिशील बिम्ब इस चिन्तन की आन्तरिक ऊर्जा का साक्ष्य देता है। परम्परा और विद्रोह का यह क्रम आधुनिक संस्कृत समीक्षा में भी क्षीण नहीं पड़ा है, उसकी ज्योति मद्धम अवश्य हो गई है।

अभिनवोत्तर काव्य-चिन्तन का यह सर्वेक्षण-मूल्यांकन यदि कवि-सहृदय के अन्तःसम्बन्ध की युगानुरूप व्याख्या में किञ्चिद् योग दे सका तो यह श्रम उपेक्षणीय न रह सकेगा। इस विश्वास के साथ सुधी पाठक वर्ग को आमंत्रित करता हूँ। पुस्तक के प्रकाशन के लिए देववाणी-परिषद् के दिशादृष्टि-सम्पन्न महासचिव डॉ० रमाकान्त शुक्ल का आभार! अंजू, विशेषतः दीप्ति को पुनः स्नेह सहयोग के लिए धन्यवाद!

५ जून १९८३

बी-२/१४४, जनकपुरी
नई दिल्ली-११००५८

— सुलेखचन्द्र शर्मा

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

(१) विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा (१-३९)

विश्वनाथ (१४वीं शती का प्रारम्भ) साहित्यदर्पण १-५
साधारण्याभिमान ५-१०
अतिप्राकृत तत्त्व एवं साधारणीकरण १०-१८
पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शताब्दी का मध्य भाग) रसगंगाधर १९-२१
अनिर्वचनीयख्यातिवाद २१-३५
अगम्यात्व-ज्ञान का प्रतिबन्धन ३५-३९

(२) साधारणीकरण-विषयक इतर अवधारणाएँ (४०-१४२)

धनंजय (१०वीं शती) : दशरूपक, धनिक : अवलोक ४०-४९
भोजराज (११वीं शती पूर्वार्द्ध) सरस्वतीकण्ठाभरण श्रृङ्गारप्रकाश ४९-५३
महिमभट्ट (१००० ई० के लगभग) व्यक्तिविवेक ५३-६१
रामचन्द्र-गुणचन्द्र (१२वीं शती का पूर्वार्द्ध) नाट्यदर्पण ६१-६५
शारदातनय (तेरहवीं शती का मध्य) भावप्रकाशन ६५-६९
विद्यानाथ (१३वीं शती ई० का अन्तिम चरण) प्रतापरुद्रीयम् ६९-७२
रूपगोस्वामी (१६वीं शती का उत्तरार्द्ध) भक्तिरसामृतसिंधु ७२-७५
रसशास्त्रीय ग्रन्थ एवं साधारणीकरण (७६-९९)
अल्लराज (१३०३ ई० के लगभग) रसरत्नप्रदीपिका ७६-७८
शिंगभूपाल (१३वीं शताब्दी का मध्य भाग) रसार्णवसुधाकर ७८-८२
भानुदत्त (१४८० से १५७० ई०) रसतरंगिणी ८२-८५
प्रभाकर (१६वीं शती) रसप्रदीप (रचनाकाल-१५९३ ई०) ८५-८८
भूदेव शुक्ल (१६६० ई०) रसविलास ८८-९०
विश्वेश्वर पाण्डेय (१८वीं शती का आरम्भ) रसचन्द्रिका ९०-९२
विद्याराम (१८वीं शती का प्रारम्भ)
रसदीर्घिका (रचनाकाल-१७०६ विक्रम) ९२-९३
जगन्नाथ मिश्र (१८वीं शती का पूर्वार्द्ध)
रसकल्पद्रुम (रचनाकाल-१७३५) ९३-९४
गंगाराम जडी (१८वीं शती का उत्तरार्द्ध)
रसमीमांसा (१८०८ वि० सं०) ९४-९६
शिवराम त्रिपाठी—रसरत्नहार: (८६), सौजन्यभूषणकवेरनुज:
रसविवेक ९६-९७

विषय	पृष्ठ
अन्य आचार्यों के साधारणीकरण-विषयक संदर्भ :	(९९-१४२)
राजशेखर (८८०-९३० के मध्य) काव्यमीमांसा	९९-१०३
कुन्तक (१०वीं-११वीं शती) वक्रोक्तिजीवितम्	१०३-१०६
क्षेमेन्द्र (११वीं शती) औचित्यविचारचर्चा	१०६-११०
मम्मट (११वीं शती उत्तार्द्ध) काव्यप्रकाश	११०-११२
हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) काव्यानुशासनम्	११२-११३
सागरनन्दी (११वीं शती) नाटकलक्षणरत्नकोश	११३-११४
सर्वेश्वर कवि (११०० ई०) साहित्यसार:	११४-११५
अग्निपुराण (१२०० ई०)	११५-११६
मंखुक (?) साहित्यमीमांसा (१८वीं शती)	११६-११७
वाग्भट्ट प्रथम (१२वीं शती) वाग्भटालङ्कार:	
वाग्भट्ट द्वितीय (१४वीं शती) काव्यानुशासन	११७-११८
विजयवर्णी (१३वीं शती ई० का प्रारम्भ) शृङ्गारार्णवचन्द्रिका	११८-११९
जयदेव (१३वीं शती मध्य) चन्द्रालोक	११९-१२०
नरेन्द्रप्रभसूरि (१३वीं शती) अलंकारमहोदधि	१२०-१२१
विश्वेश्वर (१४वीं शती का पूर्वार्द्ध) चमत्कारचन्द्रिका	१२१-१२४
श्रीवत्सलांछन भट्टाचार्य (१३२३-१३८०) काव्यपरीक्षा	१२४-१२५
अमृतानन्द योगी (१४वीं शती) अलंकारसंग्रह	१२५-१२७
गंगानन्द कविराज (१६वीं शती)(१५०६-१५२६) कर्णभूषणम्	१२७-१३०
मधुसूदन सरस्वती (१६वीं शती का उत्तरार्द्ध) श्रीभगवद्भक्तिरसायन	१३०-१३१
आचार्य विश्वनाथदेव (१६वीं शती) साहित्यसुधासिन्धु (१५५२ ई०)	१३१-१३४
कामराज दीक्षित-काव्येन्दुप्रकाश (१६९०-१७१०)	१३४
विद्याधर (१४वीं शती पूर्वार्द्ध) एकावली	१३५
विद्याभूषण (१८वीं शती) साहित्यकौमुदी	१३५-१३७
चिरंजीव भट्टाचार्य (१८वीं शती का प्रारम्भ) काव्यविलास	१३७-१३८
छज्जूराम शास्त्री (२०वीं शती) साहित्यबिन्दु (संवत् १९५२)	१३८-१३९
हरिहरानन्दशास्त्री (करपात्र) भक्तिरसार्णव (वि० २०२५)	१३८-१३९
रेवाप्रसाद द्विवेदी—काव्यालंकारकारिका (१९७७ ई०)	१४०-१४१
रमेशचन्द्र शुक्ल—रसदर्शनम् (१९८३ ई०)	१४१-१४२

(१)

विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

विश्वनाथ (१४ वीं शती का प्रारम्भ) : साहित्यदर्पण

यह निर्विवाद है कि आचार्य विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं की व्यापक समन्विति प्रस्तुत कर जिज्ञासु पाठकों के लिए लोकप्रिय पाठ्यग्रन्थ का निर्माण किया है। उनकी अवधारणाएँ प्रायः अभिनव एवं मम्मट की ही उद्धरणी प्रस्तुत करती हैं। एक प्रकार से साधारणीकरण की अवधारणा का भी उन्होंने सरलीकरण ही किया है, किन्तु यह भी सत्य है कि साधारण्याभिमान अथवा भाव साधारण्य सिद्धान्त की विशिष्ट परि-कल्पना के द्वारा साधारणीकरण की अवधारणा के विकास में भी उन्होंने अपना सुनिश्चित योग दिया है।

साधारणीकरण सिद्धान्त को विश्वनाथ ने दो स्तरों पर परिभाषित किया है। एक स्तर विभावादि की ममत्व, परत्व के स्वीकार, परिहार के सीमित बोध से मुक्त होकर सभी सामाजिकों के लिए सामान्य धर्म के रूप में उपस्थिति से सम्बद्ध है तो दूसरे स्तर पर यह साधारण्याभिमान की वह भूमिका है, जिसमें आश्रय नामक पात्र में उत्साह जैसे स्थायीभाव की प्रतीति का सामाजिक की मानसिक भूमिका में संक्रमण होता हैं। आश्रय में जैसी अनुभूति होती है, सामाजिक में भी अपने विशिष्ट संस्कार के साधारणीकृत हो जाने से वैसी ही अनुभूति उद्‌बुद्ध हो जाती है। स्पष्टतः अभिनव के समान विश्वनाथ भी इन दोनों ही स्तरों पर अनादि वासना के संस्कार को साधारणीकरण का प्रथम अनिवार्य तत्त्व मानते हैं।

'न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ।'[1]

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः ।[2]

अभिनव ने अबोधपूर्वा स्मृति की व्याख्या करते हुए मानव-चेतना में निहित आद्य बिम्बों को उन्मीलित करने वाली अनादि वासना को ही प्रकारान्तर से परिभाषित किया है। अनादिवासना की अवधारणा साधारण्याभिमान की मूल प्रेरणा है। इस परिप्रेक्ष्य में रस स्वरूप एवं आस्वाद प्रकार के सूत्र इस प्रकार व्याख्येय हैं—

१. रस लोकोत्तरचमत्कारमय है। इसका आस्वाद केवल अधिकारी प्रमाताओं द्वारा किया जाता है।[3]

२. रस का आविर्भाव सत्त्व के उद्रेक से होता है। सत्त्वोद्रेक के कारण कारण ही वह अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय है। वह इतर वस्तुओं के ज्ञान से शून्य तथा ब्रह्मास्वाद के समकक्ष है। स्पष्टतः इन सूत्रों का सम्बन्ध मूलतः किसी न किसी स्तर पर साधारणीकरण की मूल संकलपना से है। अतः प्रसंगोपात्त स्थलों पर उनका विवेचन किया गया हैं। यहाँ सूत्रों के व्यवस्थित विधान में निहित चिन्तन के स्रोतों का संकेत देना भर अभीष्ट है। ये संकेत बहुत स्पष्ट हैं।

सत्त्वोद्रेक में भट्टनायक की अन्तर्ध्वनि है। रजोगुण तथा तमोगुण से असंस्पृष्ट अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं।[4] स्पष्टतः यह परिभाषा सात्त्विक भावों के संदर्भ में तो उपयुक्त है, किन्तु काव्यास्वाद में पूर्ण सत्त्वोद्रेक संभव नहीं है। अतः भट्टनायक उसमें रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण आवश्यक मानते हैं। साहित्यदर्पणकार का आशय संभवतः रसास्वाद की ऐन्द्रिय ज्ञान से भिन्नता दिखाकर उसे मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति के रूप में परिभाषित करना है, जब कि भट्टनायक का उद्देश्य रसास्वाद में चित्त के

---

१. साहित्यदर्पण (सं० कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा-१९६७), पृ० ७८

२. -वही- पृ० -वही-

३. साहित्यदर्पण (लोचनव्याख्यया समलंकृतः) १९३८ ई०, पृ० ६९-७०

४. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम् । तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः ।

-वही-, पृ० ७०

वैशद्य की विभिन्न भूमिकाओं की ओर इंगित करना है। अतः इस संदर्भ में भट्टनायक के सत्त्वोद्रेक का अर्थ चेतना को संकुचित करने वाले रागद्वेष आदि तत्त्वों से मुक्ति अर्थात् आत्म-विश्रान्ति (सत्त्वोद्रकप्रकाशानन्दमय निजसंविद्-विश्रान्ति) तो है रजस्तमस् के अनुवेध में यह अर्थ भी निहित है कि भावना व्यापार में प्रमाता की बुद्धि सीधी अग्रसर नहीं होती। उसकी प्राथमिक चेतना रूप रस के ऐन्द्रियोल्लास तक ही सीमित रहती है। उसका भाव चैतन्य क्रमशः विकसित होता है। साथ ही विसंवादी अनुभूतियाँ भी काव्य के आनन्दात्मक प्रभाव में वैचित्र्य प्रदान करती हैं। कवि वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति के प्रति प्रमाता की अनुक्रिया को चार सोपानों (आरोह क्रम) में निर्दिष्ट किया है। आवेगजन्य, ऐन्द्रिय, भावात्मक (कल्पना-प्रवण) तथा आध्यात्मिक। चारों ही अन्तर्दशाएँ प्रकारान्तर से भावक के भावात्मक विकास को भी संदर्भित करती हैं। उदाहरणार्थ प्रथम स्थिति की संकल्पना में कवि प्रकृति के मांसल, ऐन्द्रिय, आनन्द से अभिभूत रहता है। रव करते निर्झर उसे एक आवेग की तरह घेर लेते हैं। एक ऐसी क्षुधा-भावना, एक ऐसी प्रीति जो किसी इतर सुदूर आकर्षण से भिन्न ऐन्द्रिय अनुभूति को ही चरम सार्थक मानती है उसकी प्राथमिक अनुभूति में अन्तर्भूत रहती है।[1] अन्तिम स्थिति में यही अनुभूति अनुचिन्तनात्मक आध्यात्मिक चेतना में पर्यवसित हो जाती है। क्रमशः एक ऐसी सार्वभौम गति की आत्मिक चेतना जो सम्पूर्ण चिन्तन का अतिक्रमण करती है, उसे सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त दिखाई पड़ती है।[2]

---

१. The sounding cataract haunted me like a passion :
The tall rock,
The mountain, and the deep and gloomy wood,
Their colours and their forms, were than to me
An appetite; a feeling and a love,
That had no need of a remoter charm,
('The Poetical Works of Wordsworth' Ed. Thomas Hutchinson, London-1956, p. 164)

२. And I have felt
A presence that disturbs me with the joy
Of elevated thoughts; a sense sublime
Of something far more deeply interfused.

(Ibid.)

चरमानुभूति की दशा में यही सत्त्वोद्रेक की भूमिका है। विश्वनाथ ने इसी को बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः' कहा है। अभिनव के अनुसार रस मूलतः मानस प्रतीति है।[1] इसका आशय भी यही है कि ऐंद्रिय ज्ञान मानस समाहिति में परिणत हो जाते हैं।

इस सत्त्वोद्रेक का परिणाम ही अखण्डता अर्थात् विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी आदि की समंजित अनुभूति है। विभावादि एवं रति आदि का प्रकाश, सुख एवं चमत्कार सब इसमें एकात्म हो जाता है। आधुनिक गैस्टाल्ट मनोविज्ञान भी इसका समर्थन करता है कि रसानुभूति स्वयं में मानसिक रसायन है। एक ऐसी अखण्ड चेतना है, जिसमें परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ विसंवादिता से मुक्त हो कर अन्वित होती हैं।[2] रिचर्ड्स ने इसे सिन्थेसिस शब्द से अभिहित किया है, जिसमें सन्तुलन वर्जनापरक नहीं होता, भावात्मक होता है।[3] व्यभिचारिभाव स्थायिभाव को विशिष्ट संवादी विसंवादी दिशाओं की ओर उन्मुख करते हैं, किन्तु अन्त में समुद्र में तरंगों की भाँति उसी में विलीन हो जाते हैं। यह चेतना की स्थिरता नहीं है, अपितु सामंजस्य की चेतन-प्रक्रिया है, जिसमें काव्य-वस्तु परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों में अपने आभ्यंतर स्वरूप को प्रस्फुटित करती है।

सत्त्वोद्रेक का एक अभिप्राय यह है कि यह स्वप्रकाश है, अर्थात् आत्म-चैतन्य से उद्भासित होता है। भट्टनायक भी सत्त्वोद्रेक का परिणाम प्रकाश

(तु०) (क) ज्ञानानुकूलव्यापारश्चात्र दृङ्मनोयोगः यस्मिन् सति बाह्यज्ञानं न तिष्ठति (साहित्यदर्पणः जीवानन्द पृ० ७२)

(ख) यथा ज्ञातृज्ञानभेदः प्रतीयते तथात्र नेति भावः (रामचरणतर्कवागीशः पृ० ७८)

१. न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपि तु मानस एव।
(नाट्यशास्त्रम्, भाग १, पृ० २२०)

२. What he (Ehrenfels) called a Gastalt quality, or form quality, is present in a whole but not present in any of the parts making up the whole.
(Woodworth, 'Contemporary Schools of Psychology', London-1960, p. 125)

३. I.A. Richards, Principles of Literary Criticism, p. 196.

अर्थात् आनन्दमय साक्षात्कारजन्य विश्रान्ति स्वीकार करते हैं। **सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्‌विश्रान्ति'** में प्रकाश स्पष्टतः आत्मचैतन्य का का बोधक है। किन्तु विश्वनाथ ने स्व विशेषण लगा कर उसके अर्थ को अधिक अद्वैतपरक बना दिया है। रसचेतना प्रमाता से किसी इतर प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखती, वह स्वयं में प्रयोजनातीत प्रयोजन है। रागात्मक चेतना कलातत्त्व से युक्त होते ही स्वतः अभिव्यंजित होती है। काण्ट की आसक्तिहीन आसक्ति, क्लाइवबेल का कलावाद, ब्रेडले का कला के लिये तथा क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, सौन्दर्यानुभूति की स्वप्रकाश सत्ता को ही प्रकारान्तर से परिभाषित करते हैं।

साधारण्याभिमान

विश्वनाथ ने प्रमाता के आश्रय के साथ अभेद अथवा तादात्म्य पर बल दे कर काव्यास्वाद की प्रक्रिया के मूल्यांकन में एक नवीन दृष्टिकोण को आमंत्रित किया है।

'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधि प्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते' ॥[1]

यह सामाजिक के भाव-साधारण्य की भूमिका है। समुद्रलंघन करने वाले हनूमान् (आश्रय) में जिस प्रकार उत्साह स्थायिभाव की प्रतीति होती है, सामाजिक के हृदय में भी वैसी ही अनुभूति होती है। प्रमाता हनूमान् के साथ अभेद अथवा तादात्म्य स्थापित कर लेता है। स्पष्टतः यह तादात्म्य स्वगत प्रतीति का समकक्ष नहीं है।[2] इसमें प्रमाता आश्रय पर अपनी भावना का आरोपण या प्रक्षेपण नहीं करता अपितु साधारण्याभिमान[3] के कारण वैयक्तिक सीमाओं से मुक्त हो कर उसे निर्विशेष रूप में ग्रहण करता है।

---

१. साहित्यदर्पणः (लोचनव्याख्यासहित) मोतीलाल बनारसीदास-१९३८ (लाहौर), पृ० ७८-७९

२. रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातंकादिर्भवेत्। परगत्वेन त्वरस्यतापातः। (वही, पृ० ८०)

३. उक्तप्रकारेण विभावादीनां साधारणीकरणव्यापारप्रभावेनोत्पन्नस्य स्वात्मनि साधारण्याभिमानबलात्। (लोचन -वही- पृ० ७९)

काव्य-निबद्ध सीतादि आलम्बन-विभाव से स्वयं को प्रमाता से सम्बद्ध रूप में उन्मीलित करते हैं, यह आत्मगतत्व की परिधि में आने वाला व्यापार नहीं है। इसमें एक स्तर पर पात्रों के व्यक्तित्वांश का परिहार एवं निर्विशेषीकरण होता है तो दूसरी ओर सामाजिक की ससीम मानसिकता उस विराट् व्यापार को ग्रहण करने के लिए स्वयं निस्सीम हो जाती है। प्रमाता काव्य-सामग्री को ममत्व परत्व के विकल्प-द्वन्द्व से मुक्त कर इस सम्पूर्ण व्यापार कीद्वन्द्वात्मक समाहिति के स्तर पर ग्रहण करता है।

विश्वनाथ ने इस संदर्भ में साधारण्याभिमान नामक जो नूतन पारिभाषिक शब्द दिया है, उसमें निहित बिम्ब एकान्ततः मौलिक न होने पर भी सहृदय तथा कवि-निबद्ध पात्रों को एक सूत्र में निबद्ध करने वाले कारणों की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस पर पृथक् विचार करना आवश्यक है।

साधारण्याभिमान का अर्थ टीकाकारों ने प्रायः अभेदाभिमान अथवा अभेद ज्ञान किया है यथा—**साधारण्याभिमानतः-स्वस्मिन् हनुमदाद्यभेदाभिमानतः।**' (अनन्तदास-लोचन)[1] '**एषु साधारण्याभिमानात् मनुष्यसामाजिकानामपि रामोऽहं क्रुद्धः स्वरूपानवलोकनोद्दीपितसमुद्रनिग्रहविषयकोत्साहवान् इति प्रतिपत्तिरुत्पद्यते अज्ञानोपनीतस्य श्रीरामोत्साहस्याभेदेन स्वादनाख्य व्यापारेण स्ववासनैव सामाजिकैरास्वाद्यते।**' (विवृति)[2] '**साधारण्याभिमानतः हनुमत्प्रभृतिभिः समं तदानीं भेदज्ञाननिवृत्तिपुरःसरं साधारणताज्ञानतः, समुद्रादिलंघनादौ उत्साहालक्ष्मीदिसमुद्बोधः** (जीवानन्द विद्यासागर)[3]। '**स्वस्य रामादिभ्योऽभेदज्ञानेन**' (व्याख्या, कृष्णमोहन शास्त्री)[4]। केन्द्रीय संवेदना के स्तर पर इन व्याख्याओं में विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु तार्किक अन्विति के आधार पर जो एक समग्र बिम्ब बनता है, उसका आयाम अभेद ज्ञान के अर्थ स्तर से अधिक व्यापक है, अर्थात्—

(क) सामाजिक में क्षुद्र मनुष्य चेतना से मुक्ति की भावना उदित होती है। (ख) राम के समुद्र निग्रह के अलौकिक कर्म के साक्षात्कार से

---

१. साहित्यदर्पणः पृ० ७९

२. रामचरणतर्कवागीशः साहित्यदर्पणः विवृत्या समेतः (निर्णयसागर-१९२२) पृ० ८५

३. साहित्यदर्पणः (कलिकाता-१९३४), पृ० ८३

४. वही (लक्ष्मी टीका, चौखम्बा-१९६७), पृ० ८०

प्रमाता की चेतना में लोकोत्तर चेतना अनुप्रविष्ट होने लगती है, जिससे उसे वह अलौकिक कर्म अपने अन्तश्चैतन्य में घटित-सा प्रतीत होता है और वह स्वयं को उसी उत्साह से उद्वेलित अनुभव करता है। परिणामतः वह (प्रमाता) राम (आश्रय) के अनुभावों में स्वयं एकाकार हो जाता है (रामोहं क्रुद्धः)। यह क्रोध एवं उत्साह स्वयं उसकी आत्मा में निहित संस्कार रूप से अवस्थित क्रोध की ही अभिव्यक्ति है। अलौकिक विभावों का यह साक्षात्कार उसकी आत्मा की जड़ता की ग्रन्थियों को भेद देता हैं और उसके ससीम व्यक्तित्व में विराट् चेतना उद्बुद्ध होने लगती है।

स्पष्टतः साधारण्याभिमान एक लोकोत्तर प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक की ससीम मानसिकता में निस्सीम चेतना की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा उद्बुद्ध होती है। इस अवधारणा के प्रेरक सूत्र लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव से ग्रहण किए गए हैं तथापि साधारणीकरण की मूलभूत संकल्पना को आचार्य विश्वनाथ ने एक मौलिक दृष्टि दी है। इस संदर्भ में इसके प्रेरक अन्तः सूत्रों की ओर इंगित करना अप्रासंगिक न होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अभेद-ज्ञानमूलक तादात्म्य की भूमिका है, जिसे विश्वनाथ ने साधारण्य के अवान्तर व्यापार के रूप में प्रस्तुत किया है। साधारण्य का अर्थ है—**न त्वात्मगतत्वेनैव नैव रामादिगतत्वेनैवेत्यर्थः।**[1]

भट्ट-लोल्लट का कथन है—'**मुख्यया वृत्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसंधानबलात्-इति।**'[2] अर्थात् सामाजिक ऐतिहासिक पात्रों (अनुकार्य की) की मानसिक दशा को अभिनेता में आरोपित करता है। अभिनेताओं के रंगकौशल से सीतादिविषयक रामादिनिष्ठ रत्यादि स्थायी भाव की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है।

निश्चय ही यह भी तादात्म्य की भूमिका है, किन्तु इसमें अभेदमूलक तन्मयीभवन की अपेक्षा संज्ञानात्मकता पर विशेष बल है। सामाजिक की चित्त-वृत्ति अनुकार्य की भावात्मक अनुक्रिया के मौलिक बिम्बों अथवा आद्य प्ररूपों में अभिनेता के परिवर्तित रूप का आरोपमूलक अनुसंधान करती है। प्रमाता अभिनेता में व्यक्त मौलिक चरित्र (अनुकार्य) का परिवर्तित मूल्य और युग परिवेश में जब पुनरनुसंधान करता हैं तो इस परिस्थिति में उसकी विश्लेषक

---

१. श्री महेश्वर तर्कालंकार, विज्ञप्रिया (साहित्यदर्पण) पृ० ७९

२. नाट्यशास्त्रम् (बड़ौदा-१९५६) भाग-१, अभिनवभारती पृ० २७२

बुद्धि भी सजग रहती है और पात्र की मानसिकता में प्रवेश करने वाली अभेद बुद्धि भी। परवर्ती समीक्षकों ने लोल्लट की मान्यता को केवल ऐतिहासिक महत्त्व दिया हैं, किन्तु संवेदना और संज्ञान की द्वैत चेतना की अभिज्ञता पर आधृत यह अवधारणा नव्य नाट्यालोचना में उभरते प्रतिमानों का सटीक पूर्वाभास देती है। पात्र से तादात्म्य करने के पूर्व उसके मौलिक-स्वरूप का संज्ञान चेतना में अवश्य अवतरित होता है।[१]

'**नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः**' (भट्टतौत) में भी तादात्म्य का अन्तःसूत्र निहित है, किन्तु यहाँ समान शब्द का यह अर्थ उपयुक्त नहीं है कि काव्य के आस्वादयिता सहृदय, कवि अथवा नायक (आश्रय) का काव्या-नुभव एक समान होता है। वस्तुतः कवि, नायक और श्रोता काव्य के अनुभव खण्ड में संभागी होते हैं। वे पूर्वनिर्धारित अनुभूति से प्रेरित यंत्र नहीं होते। कवि उस अनुभव-खण्ड को अपने स्तर पर जीता है। नायक-प्रतिनायक काव्य-सृष्टि की अपनी भूमिका पर उस अनुभव-खण्ड को सम्प्रेषित करते हैं और दर्शक उस अनुभव को तोड़ता-बटोरता अपने स्तर पर उसमें सहभोक्ता बनता है। ब्रेख्त ने इसी अनुभूति को प्रमाता का द्वैधीभाव कहा है।

शंकुक ने तादात्म्य के एक मनोवैज्ञानिक सूत्र की ओर संकेत किया है। रसानुभूति के लिए प्रमाता में अन्तर्दर्शन की वह शक्ति अपेक्षित है जिसके द्वारा वह अपनी मानसिक अन्तःक्रिया के विश्लेषण के द्वारा नाट्य-पात्र की अन्तर्दशा में झाँक सके, यही परार्थानुमान है, जिसके मूल में स्वानुभूति का अन्तर्दर्शन निहित है। "**कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः।**"[२] अभिनेता

---

१. ...a degree of empathy has been the starting point, and provides the norm of theatrical experience, in the construction of a dramatic pattern of feelings, we must first understand by sharing the mind and situation of Agamemnon in order to feel any significant pathos afterwards; in the same way, we must understand Macbeth in order to feel any significant repulsion afterwards.

(J. L. Styan (The Dark Comedy) Cambridge, 1968 p. 272)

२. नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) अभिनवभारती, पृ० २७२

माध्यम मात्र है, वह रामादिगत स्थायीभाव का अनुकरण करता है। अभिनेता में वस्तुतः विद्यमान न होते हुए भी अनुकृत रूप का सामाजिक के द्वारा प्रमाण (हेतुबल) से अनुमान किया जाता है तथा प्रमाता अभिनेता के माध्यम से अनुकार्य की अन्तर्दशा का पुनरनुसंधान करता हैं।

अभिनव ने तादात्म्य को सामाजिक तथा नायक, दोनों के अन्तःसम्प्रेषण की आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित किया है। स्वकीय-परकीय भाव से मुक्त होकर विभाव जब सामाजिक की चेतना में साधारणीकृत होते हैं तो नायक की अनुभूति सामाजिक को अपने अस्तित्व के भीतर समाहित करती हुई सी प्रतीत होती है।[1] नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति का तादात्म्य इसी अभेदानुभूति के स्तर पर घटित होता है जिसमें सामाजिक अपने अन्तर्दर्शन में घटित व्यापार के माध्यम से नायक की चित्तवृत्ति में प्रवेश करता है। आशय यह है कि शंकुक के समान अभिनव भी इस अवधारणा में आस्था व्यक्त करते हैं कि सामाजिक अनुमान अर्थात् आत्मानुभूत जीवनानुभूति को ही परानुभूति के साक्षात्कार का माध्यम बनाता है।

विश्वनाथ साधारण्याभिमान की तादात्म्यमूलक अभिन्नता की अवधारणा के लिए लोल्लट, भट्टतौत एवं शंकुक की अवधारणाओं के अन्तःसूत्रों का अध्याहार तो करते हैं, किन्तु उनके सिद्धान्त का वैशिष्ट्य आश्रय की विशिष्ट सत्ता की स्वीकृति के समानान्तर प्रमाता के सामर्थ्य-बोध के विकास में निहित है। तादात्म्य के लिए पूर्वार्जित अथवा बद्धमूल संस्कार अपेक्षित हैं। मिथकीय पात्रों का व्यक्तित्व अपने अलौकिक, असाधारण, औदात्त्य के कारण अवरोध उपस्थित कर सकता है, किन्तु प्रमाता की चेतना में प्रजातीय बिम्बों की एक श्रृंखला विद्यमान रहती है, जिसके पुनरनुसंधान से प्रमाता को प्रत्यभिज्ञान-मूलक आह्लाद प्राप्त होता है। अतः विश्वनाथ की अवधारणा एक स्तर पर अतिप्राकृत तत्त्वों में प्रमाता की तादात्म्यमूलक अनुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है तो दूसरे स्तर पर युग-बोध एवं परिवेश के अनुकूल आश्रय के व्यक्तित्व में निहित जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता को प्रमाणित करती है। परवर्ती

---

१. स्वपरभावात् प्रच्याविता, अत एव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकरणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना, (अभिनवभारती, पृ० ४२८)

आलोचकों ने स्वगत प्रतीति के स्तर पर प्रतिबिम्बित होने के कारण तादात्म्य को साधारणीकरण के मूल सिद्धान्त के विपरीत माना है, तथापि आधुनिक समीक्षा प्रमाता एवं आश्रय के अभेद की तादात्म्यमूलक भूमिका के प्रति अधिकाधिक आग्रहशील होती गई। आचार्य शुक्ल आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य की स्थापना में आस्था व्यक्त करते हैं। परवर्ती हिन्दी समीक्षकों ने पाश्चात्त्य चिन्तन के समानान्तर निःसंगता तथा तन्मयता की द्वैतानुभूति के समानान्तर इस सिद्धान्त का विकास किया। मराठी समीक्षकों ने तो सविकल्प समाधि (न० चि० केलकर), स्वायत्त तादात्म्य (द० के० केलकर), सहानुभूति पूर्बक ताटस्थ्य (रा० श्री जोग), भावनात्मक तादात्म्य (डॉ० बालिम्बे) इत्यादि की अवधारणाएँ विश्वनाथ के साधारण्याभिमान अथवा अभेद तादात्म्य के समानान्तर ही विकसित की हैं। इन समीक्षकों ने तादात्म्य की सार्थकता मूलतः द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में अन्वेषित की है। हिन्दी-समीक्षकों ने आश्रय के तादात्म्य अथवा साधारण्याभिमान पर आक्षेप करते हुए कहा है कि प्रमाता के तादात्म्य की प्रासंगिकता केवल प्रीतिकर भावों को अभिव्यक्त करने वाले आश्रय के संदर्भ में ही हो सकती है। वस्तुतः साधारण्याभिमान का संदर्भ अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है।

रूप गोस्वामी ने तादात्म्य को एक भिन्न स्तर पर परिभाषित किया है। उनके अनुसार समानुभूति का एक स्तर आधुनिक आस्वादयिताओं के विभावादि और रत्यादि भावों का प्राचीन अर्थात् आश्रय भक्तों के विभावादि की समरूपता है।

'एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः।
साधारण्यं तदेवोक्तं भावानां पूर्वसूरिभिः।[1]
प्राचीनभक्तानां भावैः सह अर्वाचीनानां भावान् साधारण्यमानयति।'

(दुर्गसंगमिनी)

स्पष्टतः विश्वनाथ की अवधारणा न केवल आश्रय तथा प्रमाता के तादात्म्य की संभावनाएँ प्रमाणित करती है, प्रमाता मात्र के तादात्म्य के निहितार्थ को भी समाहित करती है।

अति प्राकृत तत्त्व एवं साधारणीकरण

भट्टनायक के पूर्वपक्ष के स्तर पर देवता इत्यादि के अलौकिक कृत्यों तथा समुद्रलंघन आदि के असाधारण अतिप्राकृत आचरण के साथ प्रमाता के

---

१. भ० र० सि०: द० वि: ल० ५: का० ८३-४।

साधारणीकरण की अयोग्यता का प्रश्न उठाया है[1]। आचार्य विश्वनाथ ने भी समुद्र-संतरण आदि अलौकिक असाधारण कृत्यों से सामाजिक की अभिन्नता का संदर्भ उठाया है। राम आदि नायकों के साथ अभेद अथवा तादात्म्य की भावना उद्बुद्ध होने से साधारण्याभिमान[2] के कारण सामाजिक समुद्रबंधन जैसे अलौकिक कर्म के प्रति उत्साहित हो उठता है। इस परिप्रेक्ष्य में अतिप्राकृत तत्त्व तथा साधारणीकरण की भूमिका के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करना अप्रासंगिक न होना।

लोकोत्तर शक्तियों में आस्था तथा विश्वास के संदर्भ आदिम तथा अविकसित विश्वासों से लेकर दर्शन के चरम विकसित अर्थ स्तर पर काव्य में वर्णित हुए है। क्रमशः लोकोत्तर तथा अदृश्य शक्तियों में विश्वास का सम्बन्ध धर्म से जोड़ा गया, जिसमें समग्र जड़-चेतन को पराचेतना से अधिष्ठित मान कर अतिमानवीय शक्तियों को मानवीय नियति को संचालित करने वाली यन्त्र-भूमिकाओं के रूप में अंकित किया गया है। स्वर्ग-नरक, मरणोत्तर जीवन तथा मानवेतर विविध दिव्य जातियों की परिकल्पना तथा उनके द्वारा लोकोत्तर कृत्यों का अनुसंधान प्रारम्भ में धार्मिक भावना तथा अनुष्ठान की संकल्पनाओं के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया था। क्रमशः तत्र-मंत्र की सिद्धियाँ तथा यौगिक उपासनाओं का इनसे संबंध् जुड़ा। दिव्य शक्तियों एवं सिद्धियों के इस वातावरण में संस्कृत-काव्य एवं नाटकों का विकास हुआ। अतः काव्यरूढ़ियों के रूप में अमानुषी घटनाओं एवं कृत्यों को समाहित किया गया। इनमें आसुरी शक्तियाँ, आकाशगमन, रूपपरिवर्तन, मरणोत्तर-अस्तित्व, परकायाप्रवेश, प्राकृतिक तत्त्वों में मानवीय अस्तित्व के प्रादुर्भाव जैसी अनेक रूढियाँ जुड़ी। अतः पुराण, रामायण अथवा महाभारत के नाटकीय पात्रों की अधिक संख्या लोकोत्तर दिव्य पात्रों की है। एक ओर ये पात्र राम-कृष्ण शिव-पार्वती जैसे अवतार पात्र हैं तो दूसरी और उर्वशी-पुरूरवा

---

१. (क) देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्। नाट्यशास्त्रम् भाग-१, (बड़ौदा-१९५६) पृ. २७६।

(ख) अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः? (ध्वन्यालोकलोचन बालप्रियासहित पृ० १८१)

२. साहित्यदर्पण ३/९-१० (लोचन) पृ० ७९

जैसे वैदिक पात्र हैं, जिनमें पौराणिक कल्पनाओं के विन्यास का पर्याप्त अवकाश है। उनके लोकोत्तर अलोकसामान्य चरित्र लोक में आस्था के स्तर पर गृहीत हो चुके हैं। संस्कृत नाटकों में मानवेतर यक्ष, गंधर्व, अप्सरा, पिशाच, असुर राक्षस इत्यादि पात्र बीच-बीच में प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत होकर मानवीय क्रिया-कलापों को नियंत्रित करते हैं। दिव्य पात्रों में अदृश्यता की शक्ति, अप्रत्यक्ष का ज्ञान, आकाश-गमन की योग्यता, रूप परिवर्तन की क्षमता आदि वर्णित हैं। एक प्रकार से संस्कृत-नाटक लोकोत्तर विश्व का ही प्रतिदर्श है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि यह संदर्भ काव्य एवं नाटकों की योजनाओं में अभिप्रायों (मोटिफ्स) का रूप ग्रहण कर चुके हैं। मोटिफ़्स से आशय उस रचनात्मक वैशिष्ट्य से है, जो एक ही प्रकार की कृतियों में समान स्थिति या समान भाव को जागृत करने में प्रयुक्त होता हैं।[1] यह अभिप्राय प्रायः लोकोत्तर तत्त्वों के माध्यम से विकसित होता है तथा परकायाप्रवेश, रूपपरिवर्तन तथा जादुई पदार्थों के प्रति सामान्य जनों के विश्वास के रूप में परिवर्तित होते हैं।[2] उक्त प्रसंगों के प्रति अविश्वास तत्कालीन दर्शक-वर्ग में प्रायः कम उठता था, श्रोता प्रायः लोकबद्ध धारणाओं और अभिनिवेशों से मुक्त नहीं होता था। पाश्चात्य नाटकों की भाँति संस्कृत नाटकों के मूल में भी आदिम धार्मिक अनुष्ठानों की अन्तःप्रेरणा रही है। अतः मानव पात्रों में भी अतिमानवीय शक्तियों की स्थापना की गई तथा उन्हें कलात्मक अभिप्रायों तथा चमत्कार-सृष्टि के लिए प्रयुक्त किया गया। अतिप्राकृतिक तत्त्व केवल आगन्तुक रूप में ही नहीं नाट्य-संरचना की अन्तः प्रेरणा के रूप में भी कृति का अभिन्न अंग बनकर प्रस्तुत हुए हैं। संभाव्यता के स्तर पर ये मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि देव और असुर-पात्र भी मानव पात्रों की भाँति सहज आचरण करते

---

१. A motif is an element a type of incident, device, or formula-which recurs frequently in literature.

(M. H. Abrams,) A Glossary of Literary Terms
p. १०१

२. स च देवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

(ना० शा० ६ पृ० ३२६)

प्रदर्शित किए गए हैं।[1] इसी परिप्रेक्ष्य में भरत ने मानव प्राणियों के साथ देवों तथा असुरों का भी नाटक में अन्तर्भाव किया है। स्वयं नाट्य की उत्पत्ति के मूल में लोकोत्तर तत्त्व निहित है। नाटक के अभिनय में असुरों पर देवों की विजय दिखाई गई है तथा उसका अभिनय त्रेता युग के प्रारम्भ में स्वर्ग में होता है। नाटक की प्रकृति के विकास में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का अनिवार्य योग है। वैचित्र्य तथा चमत्कारिक सृष्टि के लिए अवमर्श तथा विमर्श सन्धि में शाप आदि अतिप्राकृत विघ्नों का उल्लेख है।[2] अभिनव के अनुसार यह लोकोत्तर असंभाव्यता मनोरथ की प्राप्ति को संभव बनाती है।[3] राजा में भी देवता का अंशज होने के कारण देवों के अनुकरण की संभावना निर्दिष्ट की गई है। साथ ही भरत ने यह निर्देश दिया है कि दिव्य पात्रों की चेष्टाएँ मानव चेष्टाओं पर ही आश्रित होनी चाहिए।[4] दिव्य पात्रों के आकाश संतरण का भी भरत ने स्पष्ट निर्देश किया है। भरत ने शाप से उत्पन्न इष्टजन वियोग का भी उल्लेख किया है। विक्रमोवर्शीयम् में उर्वशी शाप के कारण ही लता रूप में परिवर्तित होती है।[5] इसके अतिरिक्त रौद्र रस, भयानक तथा अद्भुत रस में भी भरत ने अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश किया है। भरत के अनुसार विमान, रूप परिवर्तन, इन्द्रजाल, अद्भुत रस के विभाव हैं।[6]

---

१. देवानामसुराणां च नाट्य वृत्तान्तदर्शकम्।
ना० शा० १/१८ पृ० ४२ (बड़ौदा-१९५६)

२. शापाद्यथा अभिज्ञानशाकुन्तले पंचमेऽङ्के दुर्वासःशापविमोहितत्वेन त्यक्तायां शकुन्तलायामन्तर्हितायां च षष्ठेऽङ्के अङ्गुलीयकदर्शनेन समुपजातस्मृतौ राजनि दुर्वासःशापविघ्नजो विमर्श.।
(नाट्यदर्पण, १/३९ की वृत्ति, पृ० १०१, दिल्ली-१९६१)
रामाभ्युदये रावणेन आरब्धकूटसंधौ जालिनीं राक्षसीं सीतारूपेण रामस्य दर्शयता रामस्य जनितो विमर्शः। (नाटकलक्षणरत्नकोष, पृ० ३३)

३. लोकोत्तरासंभाव्यमनोरथप्राप्तौ भवितव्यमद्भुतेन।
(ना०शा० १८/४३, अभिनवभारती, पृ० १४७४)

४. सर्वभावाश्च दिव्यानां कार्या मानुषसंश्रयाः। ना०शा० २१/१५९

५. प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतमस्या रूपम्।
(विक्रमोवर्शीयम्, पृ० २०५. कालिदासग्रन्थावली)

६. नाट्यशास्त्र, ६/७४ के अनन्तर, पृ० ३२९

संस्कृत नाटकों के उन प्रसंगों की ओर संकेत करना भी आवश्यक है, जहाँ कथावस्तु में लोकोत्तर तत्त्वों का योग हुआ है। इन तत्त्वों में शाप शकुन भविष्यवाणी जैसी रूढ़ियाँ हैं, जो लोक-विश्वास में रूढ़ होने के कारण साधारणीकरण की कोई स्पष्ट समस्या नहीं जगाती। स्वप्नवासवदत्तम् में पुष्पमद्रक आदि की भविष्यवाणी का उल्लेख है कि मगधनरेश दर्शक की बहन पद्मावती राजा उदयन की रानी होगी। यह सिद्धादेश प्रमाता की चेतना में एक अवश्यंभाविता की आश्वस्ति जगाता है। इसी प्रकार अविमारक में नाटककार ने चण्ड-भार्गव के शाप की योजना की है, जिसके कारण सौविजरा को चाण्डालत्व प्राप्त होता है। इससे नाटक में संघर्ष तीव्र होता है। भविष्यवाणी, शाप, शकुन, की यह परंपरा परवर्ती नाटकों में भी विकसित हुई है। मालविकाग्निमित्रम् में सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी के कारण मालविका एक वर्ष तक दासीत्व का अनुभव करती है। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कण्व अपनी भविष्य दृष्टि से शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमन के लिए सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हुए हैं। दुर्वासा का शाप और मुद्रिका का प्रसंग शाकुन्तलम् के घटनाचक्र को प्रभावित करता है। शाकुन्तलम् में कालिदास ने अशरीरी वाणी की भी कल्पना की है तथा दैव कर्मविपाक का भी उल्लेख किया है। मृच्छकटिक में भी सिद्ध पुरुष की भविष्यवाणी का उल्लेख है। रत्नावली में सिद्ध पुरुष यह भविष्यवाणी करता है कि उसका विवाह जिस व्यक्ति के साथ होगा, वह सार्वभौम राजा बनेगा। स्पष्टतः ये अभिप्राय मानव व्यापार में नियति की भूमिका निर्धारित करते हैं, फलतः प्रमाता के हृदय में काव्य-न्याय के प्रति आस्था दृढ़ होती है। अदृश्य नियामक शक्ति मानवीय सूत्रों का संचालन करती है, यह विश्वास सामाजिक की चेतना में प्रारंभ से ही व्याप्त रहता है, जो उसकी अनास्था का स्थगन करता है।

दूसरी कोटि में वे अतिप्राकृत तत्त्व आते हैं, जिनकी ओर भट्टनायक और विश्वनाथ ने साधारणीकरण के प्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में विचार किया है। ये तत्त्व दिव्य और अमानुषिक शक्ति के प्रतीक हैं। यथा हनुमान् का समुद्रलंघन तथा राम का सेतुबन्धन ऐसे ही अमानुषिक कर्म हैं, जिनसे एक स्तर पर प्रमाता की बौद्धिक चेतना तादात्म्य करती है, तो दूसरी ओर आकाश-संतरण अथवा ऊर्द्ध्वारोहण की मिथकीय आदिम चेतना के प्रतीक बनकर ये अलौकिक कर्म रागात्मक सत्य में अनूदित होकर प्रस्तुत होते हैं। रागात्मक चेतना उन्हें भाव सत्य में परिणत कर देती है। बौद्धिक चेतना की विश्रान्ति से आशय अलौ-

किक कार्यों के मूल में निहित मानवीय उत्साह और दुस्साहस के बौद्धिक अनुभावन से है। पर्वताकार वेगशाली मरुत्पुत्र हनुमान् के आवेग, उन्माद तथा संघर्ष का तीव्र संघात[1] प्रमाता की चेतना को परामानव शक्ति से आन्दोलित कर देता है तथा वह अपनी लघु सीमा से ऊपर उठ कर उस महान् साहसपूर्ण कार्य को अपनी आभ्यन्तर चेतना में घटित देखता है। यह कर्म निश्चय ही सम्भाव्यता की परिसीमा में होने के कारण उसे आत्म-चैतन्य में निहित अपनी पराशक्ति के प्रति स्वचेतन बनाता है।

सेतु-निर्माण भी राम के अलौकिक कर्म का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, किन्तु प्रमाता जब बौद्धिक स्तर पर उसका अनुभावन करता है, तो वह उसे एकान्त, दुःसाध्य अथवा तर्कातीत प्रतीत नहीं होता।

'हस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः।
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥'[2]

इस संदर्भ के समानान्तर राम के इस साहसपूर्ण संकल्प से तादात्म्य करना कठिन नहीं रह जाता। यह अतिप्राकृत कर्म मानव की आस्था तथा बौद्धिक तादात्म्य की परिधि से बाह्य नहीं है, किन्तु अतिमानवीय लोकोत्तर कर्म भी सामष्टिक आकांक्षा की ही रहस्यमयता को अभिव्यंजित करते हैं। वस्तुतः काव्य तथा नाटक में वर्णित अतिप्राकृतत्व की मिथकीय भूमिका साधारणीकरण में बाधक ही नहीं साधक भी है। अतिप्राकृत तत्त्व प्रमाता के हृदय की एक अद्भुत रहस्यमयता से आवृत कर उन्हें रागात्मक संचेतना

१: एष पर्वतसंकाशो हनूमान् मारुतात्मजः।
तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम् ॥
यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः।
स तु तस्यांगवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते ॥
सागरस्योर्मिजालानामुरसा शैलवर्ष्मणा।
अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ॥

२. वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड, २२/६०, पृ ११०७
(गोरखपुर सं० २०२५)

से आविष्ट करते हैं।[1] लोकोत्तर अथवा अतिप्राकृत तत्त्व यदि एक स्तर पर लोकोत्तर पात्रों के असाधारण मानवेतर आचरण का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, तो दूसरे स्तर पर उनमें चेतन जगत् की मनुष्येतर योनियों के असाधारण कृत्यों का भी समावेश देखा जाता है, जिनमें सामूहिक अवचेतन के अपेक्षाकृत तर्कातीत गहन संस्कार व्यंजित हैं। निश्चय ही उक्त दोनों संदर्भों में मानवेतर चेतन सत्ता विश्वातीत न रह कर मानवता के विभिन्न स्तरों से ही सम्प्रेषणीयता की ओर उन्मुख होती है। एक प्रकार से इन कृत्यों के साक्षात्कार से प्रमाता आत्मभाव की ही उपलब्धि करता है। इन लोकोत्तर प्रसंगों के अनेक तत्त्व फ्रेजर स्पेंसर, जैसे नृतत्त्ववैज्ञानिकों के अनुसार आदिम युग के विश्वासों से संबद्ध हैं। इनके मूल में समष्टि की अचेतन अभिप्रेरणाओं का प्रतिबिम्ब है, जो सामान्य अनुभूतियों को प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान करता है। ये कविता के तर्केतर संवेगाकुल संसार में अपनी अतार्किक प्रकृति के कारण योग देते हैं। लोकोत्तर तत्त्वों के साथ जिस दुर्बोध विराटता तथा विस्मय एवं भय का भाव समिश्रित है, वह यांत्रिक सांस्कृतिक पर्यावरण की कृत्रिमता से मुक्त मानव की आदिम चेतना को ही अनूदित करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आदिम संस्कारों से जुड़े होने के कारण लोकोत्तर तत्त्व मूल संवेगों को झंकृत करते हैं तथा सन्देह-निवृत्ति एवं अविश्वास के स्थगन की प्रक्रिया गतिशील होती है एवं वैयक्तिक संवेदना क्रमशः सामूहिक प्रतीकों में रूपान्तरित होती जाती है। वैयक्तिक अन्तःसंबंधों से मुक्त हो कर (अभिनव के शब्दों में वर्तमान के स्वालक्षण्य से मुक्ति पाकर) ये विश्वास अतीत की ओर अन्तःप्राण करते हुए क्रमशः देशकालातीत हो जाते हैं। प्रमाता सामूहिक मन तथा अतिवैयक्तिक जीवन में क्रमशः उन प्रतीकों का पुनरनुसंधान करता है, जो प्रजातीय बिम्बों से निर्मित हैं। आधुनिक समीक्षा में आर्किटाइपल अथवा आद्य बिम्बों का अन्वेषण लोकोत्तर तत्त्वों के उस मिथकीय परिपार्श्व

---

१. The apparitions, effigies and other shocks and surprises which could bring the audience in to the desired mystic union with one another, with the action, and with the cruel, primeval, juggernautlike forces governing the world.

(Georgc Wellworth) The Theatre of Protest and Paradox Newyork-1971. p. 27

की ओर इंगित करता है जो स्वर्ग-नरक, भूत-प्रेत इत्यादि मिथकों के माध्यम से अचेतन सामूहिकता का अविष्कार करता है। उदाहरणार्थ सूर्य तथा पृथ्वी के परिणय की लोकोत्तर अभिव्यक्ति उस लौकिक परिणय में हो सकती है, जिसमें दो भिन्न व्यक्ति एक अभिन्न व्यक्ति-तत्त्व में संक्रमित होते हैं।

जुंग ने सामूहिक अवचेतन में निहित प्रजातीय बिम्बों अथवा मिथकों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। मिथकों का संबंध अनिवार्यतः अतिप्राकृत घटनाओं अथवा भावों से होता है, जिनके मूल में समष्टि की अर्द्धचेतन आकांक्षाओं का प्रोद्भास रहता है। मानव और अतिप्राकृत तत्त्व समंजित हो कर प्रमाता को एक समष्टिगत चैतन्य में समभागी होने के लिए निमंत्रित करते हैं।[1] प्रमाता अज्ञात रूप से सहजानुभूति के बल पर अतिप्राकृत जीवन के प्रति एकात्म्य का अनुभव करता है। उदाहरणार्थ समुद्रलंघन की आकांक्षा प्रमाता की ऊर्द्ध्वारोहण की अवचेतननिष्ठ आकांक्षा को मूर्त करती है। अतः इन अतिमानवीय घटनाओं की एक विशिष्ट सार्थकता है, क्योंकि यह एक वस्तु-सत्य के माध्यम से भावगत सत्य का अनुसंधान करती है जिसमें प्रमाता अपेक्षाकृत आदिम बृहत्तर संदर्भ में अन्वित होता है। फ्रायड ने स्वयं को अवचेतन की दमित वासनाओं तक सीमित रखा है तथा अतिप्राकृत तत्त्वों को अतृप्त इच्छापूर्ति का प्रतिफलन माना है। किन्तु जुंग के अनुसार वैयक्तिक अवचेतन मूलतः सामूहिक अवचेतन का भाग है[2], जो सार्वभौम तथा अतिवैयक्तिक मानव प्रकृति के रूप में आत्म-चेतना के स्तर पर सर्वत्र अभिव्याप्त है। अतिप्राकृत तत्त्व अचेतन की अभिव्यक्तियों के साथ सामूहिक सार्वभौम गुणों को भी अन्तर्भुक्त किए हुए हैं, जिनके साक्षात्कार से मानव के संचित संस्कार उद्बुद्ध हो उठते हैं। कालिदास ने प्राक्तन संस्कारों[3] एवं जननान्तर वासनाओं

---

१. There I am utterly one with the world, so much a part of it that I forget all too easily who I really am.
(Jung)-Archetypes of the Collective Unconscious p. 218

२. The necessary and needful reaction from the collective unconscious expresses itself in archetypally formed ideas. The meeting with one self is, at first, the meeting with one's own shadow. Ibid.

३. C. F. Archetypal Patterns in Poetry p. 1

की ओर इंगित कर आदि बिम्ब की इस प्रकल्पना का पूर्वाभास दिया है। निष्कर्षतः प्राकृतिक घटनाओं के मिथकीय रूपान्तर सामूहिक अचेतन की अनेक प्रकल्पनाओं को प्रतीक रूप में अनूदित करते हैं। ये लोकोत्तर वृत्त एक प्रकार से मानवात्मा में बद्धमूल उन अन्तराकांक्षाओं की ही अभिव्यक्ति है, जिसमें अवचेतन प्राकृतिक घटनाओं के माध्यम से स्वयं को चेतन में प्रक्षिप्त करता है। संस्कृति की विकसित चेतना में जब ये तत्त्व प्रतीक-निर्माण में सफल नहीं होते, तो आध्यात्मिक आस्था के लुप्त होने के कारण अपनी अर्थ-वत्ता खोते जाते हैं। किन्तु उनका प्रतीकात्मक रूप में पुनः अनुसंधान मानव के मौलिक अस्तित्त्व को कलात्मक रूप में पुनः अनूदित करता है तथा प्राक्तन संस्कारों से निर्मित प्रमाता का मन अन्तःस्तर पर उसके सहज सारूप्य का अन्तर्भावन करता है। उदाहरणार्थ जल अवचेतन का सबसे सामान्य प्रतीक है। जल में अन्तः प्रवेश मानव में जहाँ अपनी मौलिक प्रवृत्तियों के प्रति आत्म-समर्पण का भाव जगाता है, वहाँ आकाश-संचरण ऊँचाइयों के प्रति आस्थाभाव जगा कर विघ्नों को पार करने की अदम्य आकांक्षा को मूर्त करता है।[२] इसमें चेतन मन अवचेतन की आकांक्षा का प्रतिरोध नहीं करता उन्हें पुनरुद्दीप्त करता है तथा आतमा की उच्चतम मुक्ति का आभास देता है। फलतः प्रमाता ऐसे लोकोत्तर कृत्य के साक्षात्कार से आत्मा के आवरण-मुक्त हो कर अधिकाधिक विशद होते जाने की प्रक्रिया अनुभव करता है। यह तार्किकता का निषेध नहीं है, अपितु चेतना का ऐसा विस्तार है, जिसके माध्यम से प्रमाता अव्याख्येय विराट् लोक में प्रवेश करता है। यह बात भिन्न है कि रसबोध की एक सीमा के अन्तर्गत प्रमाता अपनी धारणाओं और विश्वासों से एकान्त मुक्त नहीं हो पाता। भट्टनायक ने इसको स्वगतप्रतीति कहा है तथा अभिनव ने विश्वास का स्थगन। इस स्थिति में मानवीय अवि-श्वास अथवा अनास्था अतिप्राकृत शक्तियों के साधारणीकरण में अवरोध डालती है, किन्तु यह रसबोध की अपेक्षाकृत निम्नतर भूमि है, जो श्रद्धा अथवा अश्रद्धा के द्वंद्वात्मक न्याय की भूमि पर अंकुरित होती है। अतः लोकोत्तर शक्तियों में विश्वास को मूलतः वस्तु-सत्य में भाव-सत्य के पुनरनुसंधान के रूप में ही ग्रहण करना होगा।

---

२. Ibid. p. १४३

पण्डितराज जगन्नाथ (१७ वीं शताब्दी का मध्य भाग)
रसगंगाधर

पंडितराज ने प्रमातृचेतना के कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित होने तथा विभावादि रूप अलौकिक सामग्री से चैतन्य की आवरणमुक्ति की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर साधारणीकरण की निषेधमूलक व्याख्या प्रस्तुत की है। पंडितराज की रत्याद्यवच्छिन्न-भग्नावरणा चिदेव रसः की वेदान्तसम्मत अवधारणा रस-शास्त्रीय चिन्तन में विशेष महत्त्व रखती है। वैसे इस परम्परा में पंडितराज जगन्नाथ नये नहीं हैं। उनसे पूर्व श्रीवत्सलांछन (१३८० ई०), विश्वेश्वर (१४०० ई०) तथा विश्वनाथ देव (१५९२ ई०) वेदान्त की परिनिष्ठत शब्दावली में रसानुभूति की व्याख्या प्रस्तुत कर चुके हैं। यथा—**काव्ये हि विभावादिभिरभिव्यज्यते स्थायी, तस्यां चाभिव्यक्तावन्तः करणवृत्तिरूपायां चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मापि भासते, वेदान्तिनये सर्वस्मिन्नैव ज्ञाने आत्मभाननैयत्यात्।**[1] रसानुभूति की रसो वै सः के स्तर पर व्याख्या प्रस्तुत करने वाले विश्वेश्वर सम्भवतः प्रथम समीक्षक हैं। उनके अनुसार-**स वै रस इति श्रुत्या ब्रह्मणस्समकक्षया। प्रोक्तो रसस्स्वयं भाग्यात् कश्चिदेवानुभूयते॥**[2]

आचार्य विश्वनाथदेव के अनुसार चैतन्य आत्मा का सम्पर्क पाकर क्षणिक मनोवृत्ति स्वरूप जड़ रत्यादि भी पूर्ण घनानन्द स्वरूप में परिणत हो जाती है। **अस्यां चाभिव्यक्तौ अन्तःकरणवृत्तिरूपायां चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मा अपि भासते। ...काव्यदर्शनश्रवणमहिम्ना उक्त्या चैतन्यस्यानन्दांशे आवरणभंगः क्रियते तथा च रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यमानन्दांशे भग्नावरणमानन्दरूपतया परिणतं रस इति निर्गलितार्थः**[3]।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि वेदान्ती व्याख्याकी परम्परा का परवर्ती विकास भी हुआ है। इसमें विश्वेश्वर पाण्डेय का योगदान उल्लेखनीय[4] है। पंडितराज की भग्नावरण चित् की प्रकल्पना मूलतः वेदान्त

---

१. काव्यपरीक्षा (मिथिला विद्यापीठ-१९५६) पृ० १५

२. चमत्कारचन्द्रिका, दिल्ली-१९७२, पृ० १०७

३. साहित्यसुधासिन्धु, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-१९७८, पृ० ९०

४. रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमावरणभंगादानन्दरूपतया प्रकाशमानं रसपदार्थः। (रसचन्द्रिका, चौखम्बा-१९२६, पृ० ४७)

दर्शन पर आघृत है। शुद्ध बुद्ध भूमाख्य[1] सत्‌चिदानन्दस्वरूप आत्मा[2] अज्ञानावरणसे आच्छादित हो कर अपने मूल स्वरूप से स्वयं को विच्छिन्न सा अनुभव करता है। आवरण शक्ति[3] जहाँ एक स्तर पर चैतन्य के स्वरूप को आच्छादित करती है, वहाँ दूसरे स्तर पर विक्षेपशक्ति अनेक प्रातिभासिक रूपों की सृष्टि भी करती है। विक्षेप शक्ति रज्जु में सर्पत्व की भावना की भाँति जगत् प्रपंच की उद्‌भावना करती है।

विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्‌भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपंचादिमुद्‌भावयति तादृशं सामर्थ्यम्।[4]

इस अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है, जिसमें आवरण के तिरोधान के अनन्तर अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकारिता चित्तवृत्तिरुदेति।'[5] मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि आत्म तत्त्व का साक्षात्कार होने पर बुद्धि में स्थित अविद्या अर्थात् हृदय की ग्रन्थि के विच्छिन्न हो जाने से समग्र संशय नष्ट हो जाते हैं।[6] यही आत्मानन्द की चरम भूमिका है। किन्तु काव्यास्वाद की भूमिका में आत्मा शुद्ध नहीं, रतिविशिष्ट चिद्रूपा होती है। सहृदय भी अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य ही है। उसकी अन्तःकरणस्थ रति चैतन्य से विशिष्ट हो कर प्रकाशित होती है। चैतन्य स्वयं को प्रकाशित करने के साथ ही रति को भी प्रकाशित करता है, जिसके लिए आवरण भंग अपेक्षित माना

---

१. आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धि आत्मस्वरूपं निरतिशयं भूमाख्यं ब्रह्मेति विद्धि।

२. प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः। माडूक्योपनिषद्

३. आवरणशक्तितस्तु··· ···परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्।
(वेदान्तसारः चौखम्बा-१९६८, पृ० २९)

४. वेदान्तसारः पृ० - वही -

५. - वही - पृ० ८२

६. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(माण्डूक्योपनिषद्)

गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि पंडितराज ने वेदान्त के चिन्तन की पीठिका पर अपनी रससंबंधी अवधारणा को विश्लेषित किया है, किन्तु ब्रह्मा-स्वाद से रसास्वाद के प्रकृतिगत वैशिष्ट्य को दृष्टि में रखा है। ब्रह्मास्वाद की भाँति काव्यास्वाद सहृदय के स्थायिभावों की आत्मानन्द में परिणति है, तथापि अज्ञानावरण से आवृत आनन्दांश के आविर्भाव के लिए आवरण के तिरोधान का जो प्रतीक प्रस्तुत किया गया है, वह काव्य में विभावन व्यापार की केवल पृष्ठभूमि निर्मित करता है उसका एकान्त स्थानापन्न नहीं है। आशय केवल यह है कि काव्य में विभावन अथवा भावकत्व एक अलौकिक व्यापार है, जिसके द्वारा प्रमाता की अल्पज्ञता का लोप होता है तथा सर्वज्ञता की उद्भूति होती है। पंडितराज ने अपनी विशिष्ट शब्दावली में स्थायिभाव की विभावादि से व्यक्ति अर्थात् व्यंजना वृत्ति से प्रतिपत्ति को आवरणरहित चैतन्य का प्रोद्भास कह कर वेदान्त.चिन्तन तथा रस-चिन्तन का समीकरण प्रस्तुत किया है। इस समीकरण की पृष्ठभूमि को अधिक स्पष्टता से ग्रहण करने के लिए वेदान्त की केन्द्रीय शब्दावली को दृष्टि में रखना आवश्यक है। इस संदर्भ में पंडितराज ने अनिर्वचनीयख्यातिवाद तथा साक्षिवाद का आधार ग्रहण किया है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद

अद्वैतचेतना की उद्भूति तथा द्वैत बुद्धि का निराकरण वेदान्त का चरम उद्देश्य है। अध्यास (अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः) अर्थात् अविद्या के निराकरण के अनन्तर ही अनात्म विषयों का बोध तिरोहित होता है तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस संदर्भ में ख्यातिवाद का सिद्धान्त सम्मुख आता है। शुक्ति में रजत का ज्ञान ख्याति है। वेदान्त इस ज्ञान को न तो विज्ञानवादी बौद्धों की भाँति बुद्धिगत मानता है और न नैयायिकों की भाँति रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप ही स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त असत् ख्यातिवाद अख्यातिवाद तथा सत्ख्यातिवाद के सिद्धान्तों को भी वह अस्वीकार करता है। असत्ख्यातिवाद शुक्ति में रजत के अध्यास को असत् स्वीकार करता है। यह मत शून्यवादी बौद्धों का है। इसी प्रकार आख्याति-वाद का समर्थक 'प्रभाकर मीमांसक शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को ब्रह्म स्वीकार नहीं करता।'[1] सत्ख्यातिवाद विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के सर्व सर्वात्मकम् सिद्धान्त का प्रोद्भास है, जो रजतादि के ज्ञान को मिथ्या न मान

१. अद्वैत वेदान्त (दिल्ली.१९७२) डा० राममूर्ति शर्मा, पृ० २०२

कर सत्य ही मानता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार रजत में शुक्ति की सत्ता अनिर्वाच्य विषय के अन्तर्गत आती है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद शुक्ति में अध्यस्त रजत को सत् एवं असत् से विलक्षण मानते हुए उसकी प्रतिभासित सत्ता को स्वीकार करता है।[1] रजत न तो पूर्णतया सत् है और न एकान्त असत् ही। असत् मानने की स्थिति में उसकी भ्रभात्मक प्रतीति भी सम्भव नहीं होती। कहने का आशय यह है कि अनिर्वचनीय होने के कारण जगत् के ज्ञान को एकान्ततः सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता। यह सद्सद्-विलक्षण है।[2] संदर्भ यह है कि रजत में शुक्ति की सत्यता प्रातिभासिक दृष्टि से ही मान्य है, उसमें व्यावहारिक सत्यता का अभाव है।[3] इसी के समानान्तर विभावादि प्रातिभासिक पदार्थ हैं। साथ ही वे अन्तःकरण के साक्षिचैतन्य स्थायी के प्रकाशक भी हैं। अर्थात् जैसे व्यक्ति शुक्ति में रजत के चाकचिक्य को पूर्वदृष्ट रजत के संस्कार के उद्‌बुद्ध हो जाने से वास्तविक रजत के स्तर पर ग्रहण करता है, उसी प्रकार दृश्य-काव्य में अभिनेता अथवा प्रमाता पूर्वश्रुत कथा अथवा संस्कार के बल से कृत्रिम दृश्य में दुष्यन्तविषयक ज्ञान का अनुभव करता है। यह प्रातिभासिक स्थिति साक्षिभास्य[4] की प्रक्रिया पर आधृत है। वेदान्त के अनुसार कारण रूप ब्रह्म और कार्य रूप जगत् के बीच अनन्यत्व का सूत्र है।[5] किन्तु मिथ्या जगत् तथा नित्य ब्रह्म की कार्यकारणता में वैषम्य उपस्थित होने के कारण मायाशक्ति-विशिष्ट परमात्मा से अनित्य जगत् की सृष्टि की परिकल्पना की गई।

---

१. ततः ख्यातिबाधान्यथानुपपत्या भ्रान्तिगोचरस्य मायामयस्य रजतादेः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयत्वं सिद्धम्। (सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्य) चौखम्बा-वाराणसी-२०२१ सं० पृ० ८५२)

२. प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्त-वादिनः (चित्सुखी) -वही- पृ० ८५२

३. प्रातिभासिकसत्यत्वेऽपिव्यावहारिकसत्यत्वाभावेन प्रतिपन्नोपाधौ प्रति-योगित्वसंभवात् -वही- पृ० ८५०

४. विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रंगरजतादीनामिव साक्षिभास्य-त्वम्। (रसगंगाधर, सं० मधुसूदन शास्त्री, वाराणसी-२०२०, पृ० १०९)

५. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, ब्र० सू० शा० भा० २/१/१४

कहने का आशय यह है कि वेदान्त में माया शक्ति के द्वारा ही परमेश्वर इस इन्द्रजाल सदृश जगत् की सृष्टि करता है। उक्त दृष्टिकोण के अनुसार कार्य तथा कारण चैतन्य के आश्रित हैं। फलतः कारण (अविद्या) तथा कार्य (दुष्यन्त आदि प्रातिभासिक पदार्थ) दोनों चैतन्य में सन्निविष्ट हैं। यह प्रक्रिया विषय एवं अन्तःकरण के समीकरण की प्रक्रिया है (यही अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है) अर्थात् बाह्य परिदृश्य तथा अन्तःकरण के चैतन्य में अभेद हो जाने से ये बाह्य चैतन्य से अन्तश्चैतन्य में संक्रमित हो जाते हैं। क्रमशः इनकी बाह्य सत्ता लुप्त हो जाती है तथा चैतन्ययुक्त अन्तःकरण के धर्म बन कर साक्षिभास्य कहलाते हैं। उक्त दृष्टिकोण के अनुसार नट में दुष्यन्तत्व की प्रतीति शक्ति में रजत के प्रतिभास के समरूप ही है। जिस प्रकार स्वप्न में हाथी, अश्व इत्यादि[1] आकार ग्रहण करते हैं, तथा अन्तःकरण में समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी शकुन्तला एवं दुष्यन्त तथा उनके अन्तः व्यापारों की मनोमयी सत्ता है[2]। यह मानसी सत्ता ही साक्षिभास्य है।

उक्त परिप्रेक्ष्य में पंडितराज जगन्नाथ ने अभिनव तथा मम्मट की केन्द्रीय अवधारणाओं में एक गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित किया है। पंडितराज की आत्म-स्वीकृति है कि उन्होंने अभिनव और मम्मट की मान्यताओं का सार लेकर उसे वेदान्त की चेतना से संवलित कर प्रस्तुत किया है। **'इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।'**[3] अभिनव के अनुसार रति आदि स्थायीभाव जन्मजन्मान्तर के संस्कारों के रूप में संघनित होकर मानव हृदय में वासना रूप में स्थित हैं। अनुकूल कारण सामग्री के उपस्थित होते ही ये उद्बुद्ध हो जाते हैं, किन्तु अभिनव के अनुसार वासना की यह उद्बुद्धि एकान्ततः आनन्दमयी नहीं है, वह आनन्द से उद्भूत अवश्य है, किन्तु

---

१. स्वाप्नाः पदार्थाः अन्तःकरणधर्मरूपा साक्षिभास्याः (मधुसूदनी) पृ० १०६

२. काव्येऽपि मनोमयी शकुन्तला मानोरथो दुष्यन्तः, तद्व्यापाराश्च सर्वे-मनोमयाः, अतोऽन्तःकरणस्वरूपतया तद्धर्मरूपतया वा साक्षिभास्याः। (वही - पृ० - वही)

३. रसगंगाधर प्रथमानन काव्यमाला-१६३०, पृ० २३

उसकी मौलिक प्रकृति में आनन्द के अतिरिक्त राग, विद्या, कला जन्य[1] सक्रियता तथा आकांक्षा का भी योग रहता है। जबकि पंडितराज के अनुसार यह अनुभूति एकान्त आनन्दमयी है तथा प्रमाता चैतन्य में अवस्थित आनन्द रूप में ही उस अनुभूति का साक्षात्कार करता है। **'प्रमाता स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।'**[2]

उपर्युक्त विवेचन में निहित प्रमुख तथ्यों की ओर इंगित करने के अनन्तर पंडितराज जगन्नाथ के रस स्वरूप पर विचार करना प्रासंगिक होगा। ये प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं १-व्यक्ति (व्यंजनावृत्ति) से अभिप्राय आवरण-रहित चैतन्य से है अर्थात् आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। २-रति आदि अन्तःकरण के धर्म अथवा साक्षिभास्य हैं तथा इन धर्मों में परिणत हो कर विभावादि भी आत्मा के द्वारा भासित हो कर साक्षिभास्य हो जाते हैं। विभावादिकों के आस्वाद की अवधि पर्यन्त ही आवरण भंग रहता है। ३-आवरण भंग की स्थिति में सहृदय में एक अनुभूति उत्पन्न होती है जिसके प्रभाव में वह अपने स्वरूपानन्द का साक्षात्कार कर तन्मय होता है। यह स्वरूपानन्द एक स्तर पर सांसारिक सुखों से विलक्षण विशुद्धचैतन्यस्वरूप है तो दूसरे स्तर पर एकान्ततः समाधिस्थ आनन्द से भी विशिष्ट है। ४-रति आदि से युक्त आवरणरहित चैतन्य का नाम ही रस है।[3]

पंडितराज जगन्नाथ ने अपने मौलिक चिन्तन को इन्हीं सूत्रों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, किन्तु रस स्वरूप के विविध आयामों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने ११ मतों का उल्लेख किया है, जिनमें अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी मत, भट्टनायक का भुक्तिवाद, लोल्लट का उत्पत्तिवाद तथा शंकुक का अनुमितिवाद तो सम्मिलित हैं ही, नवीन आचार्यों के मत भी उल्लिखित हैं। उन्होंने उक्त सभी मतों का स्वारस्य (सार) ग्रहण कर वेदान्त की पीठिका पर अपना मत प्रस्तुत किया है जो अभिनव तथा नवीन मत के

---

१. भावप्रकाशन २/१५-२०, पृ० ५२

२. वही, पृ० २२

३. रसगंगाधर, काव्यमाला (१९३९), पृ० २५ से २७

संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। उनके अभिमत का एक अंश निम्नलिखित अवतरण के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है।

समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दांशावरणज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।[1]

उक्त अवतरण के संभावित सूत्र इस प्रकार हैं—रस सहृदय की आत्मानुभूति का ही आनन्दात्मक साक्षात्कार है। युगयुगान्त से वासना रूप में सन्निविष्ट रत्यादि स्थायिभाव अन्तःकरण के प्रकाशानन्दमय स्वरूप से संवलित होकर अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति शब्द तथा अर्थ के अलौकिक व्यापार का परिणाम है। औचित्य एवं लालित्य सहृदय के हृदय में शब्दार्थमयी सृष्टि को संप्रेषणीय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। वस्तुतः औचित्य, शब्द और अर्थ की वर्ण्य-विषय तथा सांस्कृतिक मर्यादा के अनुरूप सामान्य स्वाभाविक स्थिति है। पंडितराज ने रस-दोष के प्रकरण में रसानुभूति की औचित्यमूलक भूमिका की ओर अनेक सूक्ष्म संकेत किए हैं यथा, रसांगों में से किसी को अंगी रस की अपेक्षा प्रबल अथवा प्रतिकूल रूप में निबद्ध करने से प्रकृत रस की पुष्टि नहीं हो पाती। प्रसंग से विच्छिन्न हो कर ऐसे रसात्मक संदर्भ सामाजिक को समग्रतः तन्मयीभवन की स्थिति में नहीं पहुँचा पाते[2]। इसी संदर्भ में उन्होंने नायिका के आराध्यत्व तथा दिव्यत्व का प्रश्न भी उठाया है। यह प्रश्न साधारणीकरण के संदर्भ में विशेष प्रासंगिक है। साधारणीकरण व्यापार के विषय में यह भ्रम है कि इसके द्वारा आराध्यत्व का ज्ञान प्रतिबंधित हो जाने से रस का उल्लास निर्बन्ध रूप से

---

१. रसगंगाधर, सं० मधुसूदन शास्त्री, पृ० १०० से १०६ तक।

२. प्रबन्धे प्रकृतस्य रसस्य प्रसंगान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्र्येण रसास्वादः।

(रसगंगाधर, पृ० २१६, सं० मधुसूदन शास्त्री)

होता है, किन्तु वस्तु-स्थिति इसके विपरीत है। साधारणीकरण की कल्पना उन्हीं आलम्बनों में औचित्यपूर्ण है, जिनके द्वारा रसोद्रेक की संभावना प्रमाण सिद्ध हो चुकी है। अर्थात् प्रत्येक आलम्बन का साधारणीकरण सम्भव नहीं है। जिन दिव्य पात्रों की मौलिक संकलपना में ही शृंगार वर्णन अनुचित है, उन्हें काव्य में निबद्ध करने के लिए कवि को सांस्कृतिक मूल्यों का अधिक सूक्ष्म अनुभावन करना पड़ेगा[1]। कहने का आशय यह है कि पंडितराज रसानुभूति की संकलपना को लालित्य और औचित्य के जिन दो आधार स्तम्भों पर निर्मित करते हैं, वे उनके चिन्तन की विशिष्ट दिशा को प्रमाणित करते हैं। काव्य की मूल संकलपना में उन्होंने रमणीयता, लालित्य तथा लोकोत्तर आह्लाद का समीकरण प्रस्तुत किया है **'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।'**[2]

रमणीयता का आशय है **'पुनःपुनरनुसन्धानात्मा भावनाविशेषः'**। विभावों का प्रस्तुतीकरण मात्र पर्याप्त नहीं है उनका पुनः पुनः अनुभावन भी अपेक्षित है। वस्तुतः विभाव तो सीमित ही होते हैं, किन्तु जब कवि अथवा प्रमाता अपने अनुभव-क्षेत्र में उनका पुनरनुसंधान करता है तो सामष्टिक चैतन्य का यह अन्तर्भावन गुणात्मक स्तर पर लौकिक प्रकृति से भिन्न अलौकिक हो जाता है। यही कारण है कि पंडितराज जगन्नाथ जब वेदान्त के अद्वैत चिन्तन का आधार लेते हैं तो प्रकारान्तर से व्यक्तिनिष्ठ अन्तश्चैतन्य को वैश्वक अनुभूति के स्तर पर पुनर्व्याख्यायित करते हैं। अनुभूति मात्र का प्रस्तुतीकरण अथवा भावन काव्य नहीं है उस अनुभूति का पुनः पुनः अनुभावन ही उसे अनुभववेद्य बनाता है। यह अनुसंधानात्मक क्रिया प्राचीन प्रभाव (संस्कार) के वर्तमान अनुभव-परिवेश के साथ संयोग होने पर ही घटित होती है। निष्कर्षतः विभाव अनुभाव और व्यभिचारी सहृदय की भावना में लालित्य और औचित्य की जिस भूमिका पर सम्प्रेषणीय बनते हैं तथा मानसिक अनुचिन्तन की विलक्षणता से पुनर्भावित एवं अपने वैशिष्ट्य से मुक्त हो

---

१. यत्र सहृदायानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्। अन्यथा स्वमातृविषयकस्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः।

(वही, पृ० २२०)

२. वही, पृ० १४

करप्रमाता द्वारा स्वप्रकाश आनन्दमय स्वरूप से प्रत्यक्ष किए जाते हैं, वह अनिवार्यतः निर्विकल्प तथा सविकल्प अनुभूतियों की द्वैधी चेतना ही है।

पंडितराज ने सहृदय सामाजिक को इसी द्वैधी चेतना पर प्रतिष्ठित किया है, जिसमें वेदान्त की शुद्ध अतिप्राकृत चेतना के तत्कालीन भौतिक समृद्ध वातावरण के मेल से रसिक योगी की मूर्ति उभरती है[1]। फलतः एक स्तर पर वे **व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्** तथा **'परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा' विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्** का स्वर मुखर करते हैं तो दूसरी ओर भावनादोष का संदर्भ उठा कर सम्पूर्ण रसानुभूति को ही काल्पनिक प्रतीति में पर्यवसित कर देते हैं। पंडितराज की इस अवधारणा का हम आगे विवेचन करेंगे, यहाँ यह स्पष्ट करना मात्र अपेक्षित है कि अत्यधिक समृद्ध इन्द्रियपरायण परिवेश की कलात्मक परिणति सूक्ष्म अतीन्द्रिय निर्विकल्प साधना में ही होती है। पंडितराज का चिन्तन इसका प्रमाण है।

पंडितराज के चिन्तन के मूल सूत्रों को पुनः आकलित करने के अनन्तर उनकी साधारणीकरण-विषयक अवधारणा पर विचार करेंगे। ये सूत्र सहृदय की विषयीपक्षीय मानसिकता, काव्यवस्तु की सन्निवेशचारुता वस्तुनिष्ठ विशेषता तथा दोनों को अन्तःसूत्र में आबद्ध करने वाली भावना विशेष (कल्पना-शक्ति) से अन्वित हैं। पडितराज की सहृदय संबंधी अवधारणा अभिनव की एक सीमा तक उपजीवी है। अभिनव के अनुसार प्रमाता के निर्मल अन्तःकरण में ही काव्य-वस्तु प्रतिफलित हो सकती है। अभिनव ने सहृदय की मानसिकता की तुलना दर्पण से की है, जिसमें अन्तर्मुखी अनुभावन तथा बाह्य जड़ वस्तु के पुनर्भावन की समानान्तर क्रिया का योग है। यह योग संविद्विश्रान्ति जैसी परिकल्पना की ओर इंगित करता है। सहृदय की आत्मा मूलतः अविद्या एवं निर्मल संस्कारों की द्वैत चेतना से अन्वित मानी गई है। संस्कारों के मलीय आवरण से मुक्त होते ही सहृदय का अन्तश्चैतन्य शुद्ध प्रकाश तथा आनन्द में पर्यवसित हो जाता है। स्पष्टतः

---

१. यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।

(रसगंगाधर, पृ० ११४)

सहृदय की यह प्रतिमा वेदान्त में निरूपित मुमुक्षु अथवा ब्रह्मवित् योगी की ही है। **'जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसंचितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।'**[1] रसानुभूति का लक्ष्य जीवन्मुक्तता की यही अलौकिक भूमिका है, जिसमें अविद्या के आवरण से मुक्त होकर सहृदय अपने अन्तश्चैतन्य को ब्रह्म साक्षात्कार की भूमिका पर स्थापित कर सकें। अभिनव के दर्पण की तुलना[2] में पंडितराज ने शराव से ढके हुए तथा पुनः उन्मीलित दीपक का बिम्ब प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार सकोरे से आवृत दीपक उससे मुक्त हो कर स्वयं भी प्रकाशित होता है तथा निकटस्थ पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, आत्मा का चैतन्य भी इसी भाँति स्वयं भी प्रकाशित होता है तथा विभावादि से संवलित रति आदि को भी प्रकाशित करता है[3]। कहने का आशय यह है कि दर्पण में बिम्बन अन्तःप्रतिबिम्बन की क्षमता उसकी समष्टिगत चेतना को व्यंजित करती है। अभिनव की अवधारणा एकघनता अथवा समष्टि-प्रभाव को अधिक व्यापक स्तर पर व्याख्यायित करती है। दीपक व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुखता का भाव व्यंजित करता है। अर्थात् काव्य अथवा नाट्य के अर्थों के अन्तश्चैतन्य में प्रकाशित होने से पूर्व स्वयं सहृदय के अन्तश्चैतन्य का प्रकाशित होना अनिवार्य है। अभिनव के समानान्तर पंडितराज की धारणा सहृदय को अभिजात कलात्मक संस्कारों से युक्त मान कर चलती है, जबकि अभिनव अहृदयों के निर्मलीकरण में भी आस्था रखते हैं। वस्तुतः भावना दोष की ओर अन्तःप्रयाण वैश्वक अनुभूति की ओर उन्मुख होती हुई व्यष्टि चेतना को ही परिभाषित करता है। भावना अथवा कल्पना सामष्टिक अनुभूति में एकघनता के स्तर पर व्याप्त नहीं होती, इसमें व्यक्ति-प्रतिभा का वैशिष्ट्य अन्वित रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भावना अथवा कल्पना पर अतिरिक्त बल दे कर

---

१. वेदान्तसारः (चौखम्बा-१९६८) पृ० ९९-१००

२. नानाकाव्यानुशीलनताभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे येषां वर्णनीयवस्तुतन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदयाः। (अभिनवगुप्त)

३. यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान्पदार्थान्प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्।

(रसगंगाधर, पृ० १०७-९)

पडितराज जगन्नाथ काव्य के चारुत्व की भूमि में प्रवेश करते हैं तो यह चारुत्व एकमात्र व्यक्तिनिरपेक्ष चारुत्व न रहकर कला-संस्कृत लालित्य को परिभाषित करता है।

सहृदय की भूमिका का विवेचन करने के अनन्तर काव्य-चारुत्व के वस्तु-निष्ठ स्वरूप का उल्लेख करना अब अधिक प्रासंगिक होगा। पंडितराज नाट्यगत अथवा प्रबन्धात्मक प्रस्तुति की अपेक्षा मुक्तकों के चमत्कार के प्रति आग्रहशील थे, जिनके अनुभावन तथा आस्वादन के लिए कल्पना अथवा भावना की अतिरिक्त प्रखरता अपेक्षित है। शब्दार्थ के अन्तःसंबंध के औचित्य एवं लालित्य को संवेदनशील कल्पना ही अधिक विशदता से ग्रहण कर सकती है। काव्यानुभूति के अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य का विश्लेषण करते हुए वे क्रमशः प्रबन्धात्मक तथा नाट्य-पात्रों की भूमिका पर पहुँचते हैं तो दोनों के मध्य समीकरण का आधार भावना विशेष ही प्रमाणित होती है। प्रबन्धात्मक पात्रों में वैशिष्ट्य की सत्ता मुक्तक की अपेक्षा अधिक होती है, अतः सहृदय की उद्‌बुद्ध कल्पना-शक्ति के द्वारा उस वैशिष्ट्य का तिरोधान अपेक्षित है। सहृदय की कल्पना के द्वारा अपने विशेष संबंधों से रहित हो कर ये पात्र अलौकिक चेतना से संवलित हो जाते हैं। **'चारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदय-हृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्त-रमणीत्वादिभिः अलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः'**[1]। कहने का आशय यह है कि शब्दार्थ के अन्तःसंबंध की सूक्ष्म ललित भंगिमाओं के अन्त-र्भावन में संवेदना के अतिरिक्त विवेक-चेतना का भी योग आवश्यक है। मुक्तक की भूमि में विवेक और संवेदना की सहज एकात्मकता प्रबन्धगत अन्तर्भावन में हृदय एवं बुद्धि के संतुलित ऐक्य की भूमिका प्रशस्त करती है। अतः पंडितराज जगन्नाथ भावना की अतिरिक्त सक्रियता की ओर प्रज्ञा और संवेदना के सामंजस्य की भूमि से अग्रसर होते हैं जो मुक्तकगत चमत्कार की सहज भूमि है।

पंडितराज की भावना-विषयक परिकल्पना जैसा कि हमने ऊपर कहा है मात्र संस्कारों के पुनरुद्‌बोधन पर ही आश्रित नहीं है, उसमें समष्टि की अनुभूति का व्यष्टिगत अनुभव में अनूदन आवश्यक है जो प्रज्ञा और संवेदन की एकात्मकता के द्वारा ही संभव है। भावना के सक्रिय होते ही विभाव,

---

१. रसगंगाधर, पृ० १०१-२

अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की सहज सत्ता अभिव्यंजनागत सत्ता में रूपान्तिरित हो कर सर्वजनसंवेद्य निर्विशेषीकृत तथा साधारणीकृत हो जाती है। पंडितराज के अनुसार इस अन्तर्भावन के लिए किसी भिन्न व्यापार की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। अभिनव भी शब्दमयी सृष्टि को सर्वभोग्य कहते हैं[1]। आशय यह है कि पंडितराज अभिनव के व्यंजना व्यापार को अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य के स्तर पर अधिक व्यापकता से व्याख्यायित करते हैं। साधारणीकरण काव्य चारुत्व की सहज परिणति है। सहृदय की भावना ही काव्य के इस चारुत्व को सूक्ष्म भंगिमाओं में परिभाषित करने में समर्थ है तथा यह भावना अभिव्यंजना की विशुद्ध स्थिति से ले कर सहृदय की व्यापक मनोभूमियों को समाहित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पंडितराज की भावना संबंधी परिकल्पना वस्तुनिष्ठ होते हुए भी सामाजिक की अन्तश्चेतना की विशुद्ध स्थिति तथा अज्ञान-निवृत्ति की विविध भूमिकाओं को आत्मसात् करती है।

भट्टनायक ने भी भावना व्यापार को साधारणीकरण के पर्याय अथवा अन्तर्भूत व्यापार के रूप में परिभाषित किया है, किन्तु उनकी दृष्टि दोष-गुणालंकार के सापेक्षिक महत्त्व को स्वीकार करती हुए भी मूलतः विषयीनिष्ठ है। पंडितराज भावना को साधारणीकरण व्यापार की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में भट्टनायक की अभिधा, भावना तथा भोगीकृति की त्रिक चेतना की आलोचना करते हुए वे भावना को अतिरिक्त क्रिया मानते हैं जो आवरण भंग करने वाली व्यंजना से भिन्न नहीं है।[2] पंडितराज का कथन है कि साधारणीकरण के विघ्नों के निराकरण के लिए ही भावकत्व व्यापार की सार्थकता है, क्योंकि अगम्यात्व ज्ञान का प्रतिबंधन साधारणीकरण मात्र से नहीं हो सकता है। इसके लिए विरोधी ज्ञान का

---

१. ···प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादि-विषयमयीभि (मयैः)···　(नाट्यशास्त्रम्, बड़ौदा पृ० २८१)

२. एवं च त्रयोंऽशाः काव्यस्य-अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च इत्याहुः। मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद्भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः। भोगस्तु व्यक्तिः। भोगकृत्वं तु व्यंजनादविशिष्टम्। अन्या तु सैव सरणिः।

(रसगंगाधर, पृ० १३)

प्रतिबंधन आवश्यक है। "तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्व-व्यापारेण अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूल-धर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकाल-वयोस्थादिषु।[1] इस प्रकार पंडितराज ने भट्टनायक के मत को भी अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक एवं दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। इसमें भावकत्व व्यापार को वे जहाँ इस अर्थ में स्वीकार करते हैं कि वह विरोधी ज्ञानों का निराकरण करता है, वहाँ व्यंजना में उसकी गतार्थता स्वीकार कर उसके मौलिक अस्तित्व को अप्रामाणिक भी मानते हैं।[2]

उक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में भट्टनायक के साधारणीकरण संबंधी सिद्धान्त के कतिपय सूत्रों का भी पुनःसंस्कार हुआ है। पंडितराज ने भट्टनायक के अभिमत को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में विश्लेषित किया है, जिसकी मनोविश्लेषणपरक आधुनिक संभावनाओं पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ अभिनव तथा भट्टनायक के चिन्तन के आलोक में पंडितराज ने जिन सूत्रों को ग्रहण किया है, उनका पुनराकलन ही अभीष्ट है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अभिनव के तन्मयीभवन तथा भट्टनायक के प्रतिबन्धन-सिद्धान्त की वैकल्पिक व्याख्याओं को अन्वित कर पंडितराज ने भावना दोष-विषयक सिद्धान्त का निर्माण किया है जो साधारणीकरण को निषेधपरक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करता है। जहाँ तक अभिनव के सिद्धान्त का पंडितराज के द्वारा पुनर्व्याख्यान हुआ है, वह स्वयं में दार्शनिक उपलब्धि तो है, गुणात्मक स्तर पर काव्यशास्त्रीय मौलिक उपलब्धि नहीं है।

पंडितराज ते अभिनव के सिद्धान्त की भी दार्शनिक व्याख्या की है तथा वेदान्त की परिभाषिक शब्दावली के आवरण में उसके स्वरूप को किंचित् परिवर्तित कर दिया है। उनके अनुसार अभिनव का रस-स्वरूप वेदान्त की शब्दावली में 'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिरेव रसः है' अर्थात् अज्ञानरूप आवरण से रहित चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायिभाव ही रस है, जबकि स्वयं उनके अनुसार अभिनव का रस स्वरूप 'रत्याद्यवछिन्ना भग्नावरण चिदेव रसः' के स्तर ही पर स्वीकार्य है। कहने की आवश्यकता नहीं

---

१. वही, पृ० १२८

२. भोगकृत्वं व्यंजनादविशिष्टम् समानम्।

(वही, पृ० १३०)

कि पंडितराज के मत में स्थायिभाव विशेषण और चैतन्य विशेष्य है तथा अभिनव के मत में चैतन्य विशेषण तथा स्थायिभाव विशेष्य है। अद्वैत वेदान्त चैतन्य को ही आनन्दरूप स्वीकार करता है, चैतन्य के प्रतिभास होने के कारण नहीं। अभिनव के मत के वेदान्तपरक संस्कार से पंडितराज का अभिमत पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुआ, अतः उन्होंने नव्य मत के रूप में अपनी अवधारणा को अधिक स्पष्ट रूप दिया।

प्रथम नव्य मत को पंडितराज ने अपने अभिमत के स्तर पर प्रस्तुत करते हुए कतिपय नवीन सूत्र भी दिए हैं तथा अभिनव के सूत्रों का भी अध्याहार किया है। पंडितराज के अनुसार काव्य और नाट्य में कवि तथा अभिनेताओं के द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारीभाव शब्दों तथा अभिनयों के द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं। काव्य के पठन और नाटक के दृश्यावलोकन से सामाजिक को विभावादि का ज्ञान होता है, इसके अनन्तर व्यंजनावृत्ति के द्वारा वह दुष्यन्त के हृदय में निहित शकुन्तला के प्रति रति आदि भावों की स्थिति का बोध करता है। इस स्थिति में क्रमशः यह बोध प्रगाढ़ हो जाता है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति प्रणय-भावना से अनुरंजित है। इस बोध के अनन्तर सामाजिक में एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है और उसके प्रभाव में वह दुष्यन्त, शकुन्तला आदि की प्रणयानुभूति का पुनः पुनः अनुसंधान करने लगता है। यह भावना विशेष सहृदयता की उद्भूति है तथा इसके प्रभाव से सामाजिक की अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है। भावनाजन्य दुष्यन्तत्व की इस मानसी भूमिका के कारण प्रमाता स्वयं को दुष्यन्त की भूमिका में ग्रहण करता है। फलतः शकुन्तला के विषय में अनिर्वचनीय साक्षिभास्य रति उत्पन्न हो जाती है। भावना दोष के कारण जैसे सहृदय की आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित होती है, उसी प्रकार शकुन्तलाविषयक रति भी कल्पित रूप में ही उद्भूत होती है। यह अनुभूति सीप के टुकड़े में रजतखण्ड की अज्ञानजन्य प्रतीति के समकक्ष है। कहने का तात्पर्य यह है कि शकुन्तला आदि की रति प्रमाता में वास्तविक रूप में नहीं रहती, तथापि उसकी आत्मा उसका साक्ष्य प्रस्तुत करती है क्योंकि प्रमाता की आत्मा भावना रूप दोष से आच्छादित हो कर कल्पित मनोमय जगत् का निर्माण करने में समर्थ है। इस भावना दोष के कारण स्वयं में दुष्यन्तत्व की परिकल्पना करने वाले सामाजिक में साक्षिभास्य अनिर्वचनीय शकुन्तला-

विषयक रति आदि स्थायिभाव ही रस रूप में परिणत होता है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि रसानुभूति सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अनुभूति है। प्रमाता प्रत्यक्ष होने के कारण न तो दुष्यन्त शकुन्तला आदि की रति को अवास्तविक मान सकता है और न कल्पित मनोमयी सृष्टि होने के कारण वास्तविक ही।

पंडितराज के इस चिन्तन के सूत्र विश्वनाथ की आश्रय के साथ तादात्म्य की कल्पना से अंशतः ग्रहण किए गए हैं, किन्तु भावना रूप दोष की कल्पना का आधार प्रदान कर उसे उन्होंने निजी विशिष्ट अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया है। आधुनिक दृष्टि से पंडितराज की इस अवधारणा को दोनों स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है। दार्शनिक दृष्टि इसका वेदान्तपरक समाधान उपस्थित करती है तो आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन भी इसमें निहित सत्यांश को प्रमाणित करता है। वेदान्त की दृष्टि से काव्यानुभूति अनिर्वचनीय ख्याति पर आधृत है। अनिर्वचनीय ख्याति के दार्शनिक आधार की विवेचना हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं, इस अनुभूति में निषेध और स्वीकृति के अन्तःसूत्र मिश्रित रहते हैं। व्यावहारिक सत्यता के अभाव तथा प्रातिभासिक दृष्टि से सत्य होने के कारण इस सदसद् विलक्षण प्रतीति को अनिर्वचनीय कहा गया है। कहने का आशय यह है कि प्रत्यक्ष अनुमान आदि से बाधित होने पर भी अनुभूति का ज्ञाता विद्यमान रहता है। इसी प्रकार कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित प्रमाता की आत्मा में साक्षिभास्य शकुन्तला-विषयक अनिर्वचनीय अनुभूति की मूल प्रकृति प्रमातृपरक ही है। सम्पूर्ण अन्तर्भावन की प्रक्रिया प्रमाता में घटित होती है। इस संदर्भ में पंडितराज इस प्रश्न का भी उत्तर देते हैं कि भ्रमस्वरूपा अनिर्वचनीय रति का, जो न सुख रूप है और न व्यंग्य ही है, उसके अनन्तर उत्पन्न होने वाले सुख के साथ कैसे अभेद ठहराया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि इस अनि-

---

१. नव्यास्तु काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यंजन-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यः शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।
(रसगंगाधर, सं० मधुसूदन शास्त्री, पृ० १३१ से १३३)

र्वचनीय अनुभूति के अनन्तर जिस लोकोत्तर आह्लाद की प्रतीति होती है, उस अनुभूति से अन्वित कर इसे भी आनन्द रूप कहा जाता है। वस्तुतः आनन्द अनिर्वचनीय रति की परवर्ती भूमिका है। किन्तु अव्यवहित होने के कारण पूर्ववर्ती अनुभूति भी आह्लादपरक ही प्रतीत होती है। **'स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात्सुखपदव्यपदेश्यो भवति।'**[1] इसी के समानान्तर तथ्य यह है कि शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि की रति का व्यंजना वृत्ति के द्वारा ज्ञान तथा भावनादोषजन्य मिथ्यानुभूति का भी भेद ज्ञात नहीं होता। अतः इस परवर्ती अनुभूति को भी व्यंजनावृत्ति से प्रकाशित कहा जाता है[2]। अब प्रश्न यह उठता है कि सहृदयों की आत्मा को आवृत करने वाला अनिर्वचनीय दुष्यन्तत्व का यथार्थ स्वरूप क्या है तथा वह आत्मा का आच्छादन किस प्रकार करता है? प्रथम स्तर पर प्रमाता स्वयं को दुष्यन्त समझता है तथा क्रमशः उसकी यह अनुभूति प्रखर होती जाती है कि यह रति एकान्ततः उसी की है। इस प्रकार न केवल कल्पित दुष्यन्तत्व से प्रमातृ-चेतना युक्त हो जाती है, अपितु विभाव विषयक रति भी प्रमातृचेतना में उद्भूत हो जाती है। कहने का आशय यह है कि शकुन्तलाविषयक रति का संबंध प्रमातृ-चेतना में स्थापित करना ही अवच्छादक संकल्पना का उद्देश्य है[3]। इस अवधारणा को स्वीकार कर लेने पर भट्टनायक की स्वगत परगत प्रतीति संबंधी आपत्तियों का भी समाधान हो जाता है। कल्पित दुष्यन्तत्व से प्रमातृचेतना को आच्छादित मान लेने से सामाजिक का शकुन्तलादि विषयक रति से संबंध स्थापित हो जाता है।[4]

इस संदर्भ में पंडितराज ने साधारणीकरण की पूर्ववर्ती अवधारणा की प्रासंगिकता पर भी विचार किया है। उनका विचार है कि प्राचीन आचार्यों

---

१. रसगंगाधर (पूर्ववत्, पृ० १३२)

२. स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात्तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा व्यंग्यो वर्णनीयश्चोच्यते। (वही, पृ० १३३-३४)

३. अवच्छादकत्वं च रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकत्वम्। (वही, पृ० १३४-३५)

४. स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहतेत्यादिकमपास्तम्। (वही, पृ० १३५)

ने जो विभावादिकों के निर्विशेषीकरण अथवा साधारणीकरण का उल्लेख किया है, यह दोष की कल्पना के अभाव में सिद्ध नहीं हो सकता। काव्य में शकुन्तला का वर्णन दुष्यन्त की प्रेयसी अथवा पत्नी के रूप में ही होता है। प्रमाता की चेतना में वह इसी रूप में अवतीर्ण होती है। कामिनी मात्र की भूमिका पर उसे प्रस्तुत करने के लिए उसकी शकुन्तलाविषयक मौलिकता को लुप्त करना आवश्यक है। उसके निराकरण के लिए दोष की कल्पना आवश्यक है, अतः भावना-दोष की अवधारणा की स्वीकृति से साधारणीकरण की भूमिका सरल हो जाती है तथा प्रमाता के लिए अपनी आत्मा में दुष्यन्त आदि से अभेद तथा तादात्म्य स्थापित करना भी संभव हो जाता है। पंडितराज की शब्दावली से ऐसा प्रतीत होता है[1] कि उन्हें साधारणीकरण की परम्परागत अवधारणा में आस्था नहीं है, किन्तु उनके विकीर्ण अभिमतों के परिप्रेक्ष्य में यह संदेह निवृत्त हो जाता है। साधारणीकरण की अवधारणा को पंडितराज ने अनेक दृष्टिबिन्दुओं और आयामों में विश्लेषित किया है।

अगम्यात्व-ज्ञान का प्रतिबन्धन

जैसा कि हमने ऊपर कहा है पंडितराज की सांस्कृतिक दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म और परिष्कृत थी। विलास-संकुल वातावरण की अनिवार्य प्रतिक्रिया नैतिक चेतना के समानान्तर विकास में होती है। फलतः उन्हें गीत गोविन्द जैसे ऐन्द्रियोल्लास से परिपूर्ण कार्य शृंगारिक मर्यादा के प्रतिकूल प्रतीत हुए। इनसे पूर्व आनन्दवर्द्धन भी कालिदास के शिव-पार्वती विषयक सम्भोग शृंगार पर आपत्ति व्यक्त कर चुके थे। अतः रसानुभूति का संदर्भ उपस्थित होने पर उनकी सांस्कृतिक-नैतिक दृष्टि सचेष्ट हो उठी। पंडितराज ने स्पष्ट कहा कि प्रत्येक शृंगारिक वर्णन अनिवार्यतः प्रमाता की चेतना में साधारणीकृत नहीं हो सकता। शृंगार के आलम्बनों का नैतिक प्रतिमानों के निकष पर आराध्यत्व के ज्ञान से मुक्त होना आवश्यक है। यदि यह कहा जाए कि साधारणीकरण व्यापार आराध्यत्व के ज्ञान को निराकृत कर सकता है, तो

---

१. यदपि विभावादीनां साधारण्य प्राचीनैरुक्तं तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।

(रसगंगाधर, पूर्ववत्, पृ० १६६)

यह सर्वत्र सम्भव नहीं है। जिन पात्रों के प्रति प्रमाता की चेतना आराध्यत्व के ज्ञान से मुक्त नहीं हो पाती, उनके साथ रति की भूमिका पर वे तादात्म्य नहीं कर सकते। आराध्यत्व के ज्ञान का प्रतिबन्धन स्वीकार न करने की स्थिति में माता-पिता के रति वर्णन में भी सहृदयों की रसानुभूति को स्वीकार करना पड़ेगा। पंडितराज का यह अभिमत प्रकारान्तर से सर्जनात्मक मर्यादा को भी रेखांकित करता है। आधुनिक काव्यों को प्राचीन कवियों की शृंगार-बहुल कृतियों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। '**जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसंमतोऽयं समयो मदोन्मत्तमतंगजै रिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानींतनेन तथा वर्णयितुं सांप्रतम्। तथा विद्यावयोवर्णाश्रमतपोभिरुत्कृष्टैः स्वतोऽपकृष्टेषु न संबहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यम्।**'[2] भट्टनायक के प्रसंग में भी पंडितराज ने पूज्य बुद्धि विषयक प्रतिपत्ति पर विचार किया है। उनका कथन है कि शकुन्तला आदि सभी स्त्रियों में सामान्य रूप से रहने वाला कान्तात्व भी सामाजिक की वासना के विकास का प्रयोजक नहीं हो सकता। काव्य शब्द से उपस्थित किये जाने पर अथवा वेशभूषा आदि के द्वारा शकुन्तला को जिस विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है, उससे सामाजिक का साधारणीकरण होना संभव नहीं है। यदि यह कहा जाए कि वह स्त्री होने के कारण सामाजिक का साधारण रूप से विभाव बनने में समर्थ है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाता जिसे प्रेम पात्र की भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है, उसके विषय में उसे यह निर्भान्त ज्ञान अवश्य होता है कि वह उसके लिए अगम्या नहीं है तथा उसकी प्रेमास्पद बनने की योग्यता रखती है। यह ज्ञान अप्रामाणिक नहीं होना चाहिए। अन्यथा स्त्री तो बहन आदि भी होती है, फिर वे भी विभाव कहीं जाएँगी। अतः जिसे प्रमाता विभाव स्वीकार करता है, उसके विषय में अगम्यात्व के ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव किसी प्रतिबन्धक के सिद्ध हुए बिना सम्भव नहीं है। पंडितराज ने भावना दोष के आधार पर इसका समाधान प्रस्तुत किया है। आधुनिक मनोविश्लेषण सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में भी इसका औचित्यमूलक समाधान अनु-

---

१. यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्। अन्यथा स्वमातृविषयकस्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः।
(रसगंगाधर, पृ० २२०)

२. वही, पृ० २२०-२१

संधेय है। फ्रायड के चिन्तन के समानान्तर अगम्यात्व के प्रतिबन्धन सिद्धान्त का विश्लेषण अपनी सुनिश्चित त्रुटियों और सीमाओं के होते हुए भी इस प्रश्न का आंशिक समाधान उपस्थित कर सकता है।

अगम्यात्व का प्रतिबन्धन साधारणीकरण की प्रमुख प्रक्रियाओं में से है। प्रमाता जिसे अपना विभाव स्वीकार करता है, उसके विषय में यह प्रामाणिक ज्ञान अनिवार्य है कि वह अगम्या नहीं है। **'न च कान्तात्वं साधारणं विभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्। अप्रामाण्यनिश्चयानालिंगितागम्यात्व प्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटावश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वस्त्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः।'**[1] अर्थात् कान्तात्व मात्र ही रति के आलम्बनत्व के लिए पर्याप्त नहीं है, उसमें अगम्यात्व ज्ञान का प्रतिबंधन भी अनिवार्य है।

फ्रायड का अभिमत है कि मानव मन के अवचेतन स्तर पर काम की अनेक अतृप्त दमित एषणाएँ निहित रहती हैं। शैशव के प्रारंभिक विकास में माता ही उसके काम-संवेग मूलक प्रेम का प्रथम आलम्बन होती है। इस अर्थ में शिशु पिता का प्रतिद्वन्द्वी[2] होता है। क्रमश वह रति के समानान्तर विकास-क्रम में पिता की मानसिकता का अपने अहं में तादात्म्य कर इस मातृसंबंधी आसक्ति का उदात्तीकरण करता है। माता के प्रति उसकी अनुरक्ति चेतन स्तर पर आविर्भूत नहीं होती। वह दमित हो कर नैतिक मन के कठोर अनुशासन में अवचेतन स्तर पर गतिशील रहती है। सामाजिक एवं नैतिक शक्तियों के प्रभाव में यह ग्रन्थि लुप्त-सी प्रतीत होती है, किन्तु अज्ञात रूप से वह अनेक मनोविकृतियों एवं दिवास्वप्नों की सृष्टि करती है।

प्रमाता की नाट्यानुभूति के समानान्तर यदि इस प्रक्रिया का विवेचन करें तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि नाट्य-प्रयोग के साक्षात्कार के क्षण में प्रमाता की दमित रागात्मकता उद्भिन्न हो कर प्रच्छन्न रूप में परितोष पाती

---

१. रसगंगाधर : प्रथमो भाग : (सम्पादक श्री मधुसूदन शास्त्री)
(बनारस २०२० पृ० १२३-२५)

२. ......this interest soon gives rise to a feeling of sexual attraction towards thc mother associated with feelings of jealousy or resentment directed against the father, who has become the boy's rival in his mother's affection.
(J. A. C. Brown : (Freud and post-Freudians, p. 23)

है। यह सुरक्षात्मक, गत्यात्मक प्रक्रिया है, जो नैतिक मन के अनुशासन में कामुकतारहित साध्य की ओर अग्रसर होती है। नैतिक मन सांस्कृतिक संस्कारों से परिष्कृत अहम् का विकसित रूप है एवं अहम् जैव आवश्यकताओं की अबाध पूर्ति का प्रतिबन्धक तत्त्व है। क्रमशः नाट्यास्वाद के घनीभूत क्षण में दमित अवचेतन नैतिक मन के अनुशासन से मुक्त हो कर दमित आकांक्षा की पूर्ति की ओर अग्रसर होता है। दुष्यन्त उसका पितृस्थानीय प्रतिद्वंद्वी तत्त्व है, किन्तु उससे प्रत्यक्ष तादात्म्य अथवा अभेद स्थापित कर वह उसका प्रत्यक्ष स्थानापन्न नहीं बन सकता। पंडितराज ने उपयुक्त ही कहा है कि अभेद बुद्धि मात्र ही अगम्यात्व के ज्ञान की प्रतिबंधिका नहीं हो सकती; इसमें प्रमाता को अपनी हीनता का परिज्ञान भी रहता है।

'स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत्, न, नायके धराधैरेयत्व-धीरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्व-कापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तोरभेदबोध-स्यैव दुर्लभत्वात्।'[1]

कहने का आशय यह है कि प्रमाता का स्वयं को अभेद बुद्धि के आधार पर दुष्यन्त समझ लेना मात्र उस विरोधी ज्ञान का प्रतिबंधक नही है, प्रमाता और दुष्यन्त के मध्य एक विस्तृत मानसिक अन्तराल (वैधर्म्य) है, अतः प्रमाता अज्ञात रूप से विस्थापन, प्रतीकीकरण, अथवा अचेतन बिम्बों की कल्पना का आधार ग्रहण करता है। पंडितराज ने अपने विशिष्ट चिन्तन परिवेश में इसे भावना-दोष कहा है।

मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो प्रमाता की प्रच्छन्न रागात्मकता प्रतिकार के भय से मुक्त हो कर पिता के इस नूतन प्रतिनिधि दुष्यन्त में रागात्मक साहचर्य का प्रतीकान्तर करती है। उसके माध्यम से प्रमाता शकुन्तला को अपने रागात्मक विषय का वैकल्पिक लक्ष्य बनाता है। फ्रायड का मत है कि व्यक्ति वैकल्पिक विषय में अपने प्रथम प्रेम को खोजता है[2]। अतः शकुन्तला की ओर अनुधावित प्रमाता की रागात्मक ऊर्जा अपने मूल प्रणय-केन्द्र से विस्थापित हो कर उदात्तीकृत होती है।

---

१. रसगंगाधर (उपरिवत्, पृ० १२६-२७)

२. फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका (कैल्विन एस० हाल) राजकमल दिल्ली, पृ० ७६

वस्तुतः यह भावनादोष आत्ममोह का पुनरनुसंधान है, जिसमें प्रमाता द्वारा पूर्व वरण किए गए निषिद्ध रागात्मक मूल्यों को संस्कार मिलता है। शकुन्तला में वह जिस मातृ-बुद्धि का पुनः वरण करता हैं, निषेधों एवं वर्जनाओं के शिथिल हो जाने से वह मातृ-चेंतना प्रेयसी चेतना में रूपान्तरित हो जाती है। अतः विकल्प का यह वरण मूल का ही रूपान्तरित वरण है, जिसमें अगम्यात्व का ज्ञान प्रतिबंधित हो जाता है। प्रारम्भ के अवरुद्ध वरण की ऊर्जा अब कल्पित भाव-तादात्म्य में उदात्तीकृत हो कर निर्बाध परितोष पाती है। उल्लेखनीय यह भी है कि जिन व्यक्तियों में बौद्धिक अनुशासन अधिक प्रखर होता है, वे वरण के मूल उद्गम के उद्घाटित होने के भय से गोपनेच्छाप्रिय हो जाते हैं। अतः वे नाट्य-प्रयोग का निर्बाध आस्वाद नहीं ग्रहण कर सकते। अभिनव के शब्दों में **'तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः'**[1]।

वस्तुतः ये व्यक्ति शमन-ग्रन्थि से पीड़ित हैं, जो प्रवृत्तिमूलक विषय के चेतन स्तर पर आने में अवरोध डालती है। फ्रायड के अनुसार अगम्यात्व का दृढ़ निषेध निषिद्ध विषय की तीव्र इच्छा का ही द्योतक है।[2] निषेध की दीर्घ परम्परा के कारण यह ग्रन्थि शमित हो कर अवचेतन के गहन स्तर में लुप्त हो जाती है। अतः चेतन स्तर पर इसके दमन के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। विभाव के स्तर पर पुनः उसकी प्रतीकीकृत उद्बुद्धि से स्वप्न जैसी प्रतीकात्मक सन्तुष्टि प्राप्त होती है, जो अयथार्थ अनुभूति को मानसिक आह्लाद में बदल देती है। मातृ-रति ग्रन्थि की फ्रायडी अवधारणा भारतीय चिन्तन की विशिष्ट नैतिकता के विपरीत प्रतीत हो सकती है, किन्तु भारतीय वाङ्मय में सरस्वती को ब्रह्मा की दुहिता, प्रेयसी एवं माता कहा गया है,[3] यह प्रकारान्तर से इस तथ्य का द्योतक है कि काव्य-सृष्टि के उपादान वर्जना-मुक्त होकर ही कवि सहृदय के आस्वाद के विषय बनते हैं।

---

१. नाट्यशास्त्रम् भाग-१, पृ० २८०

२. फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका पृ० ७५

३. (क) धातुश्चतुर्मुखीकण्ठशृंगाटकविहारिणीम् (सुभाषितरत्नभाण्डागार, निर्णयसागर-१९५२, पृ० ३)

(ख) देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा। नैषधीयचरितम् १/६६ (निर्णयसागर-१९५२) पृ० ४६७

टि०—सरस्वती को विष्णु की पत्नी कहना प्रकारान्तर से ब्रह्मा की माता कहना है।

[२]

साधारणीकरण-विषयक इतर अवधारणाएँ

धनंजय (१०वीं शती): दशरूपक, धनिक: अवलोक

धनंजय की साधारणीकरणविषयक अवधारणा भट्टनायक से प्रेरित है। उसकी प्रक्रिया का विवेचन उन्होंने शंकुक की शैली में किया है तथा चिन्तन के मूल सूत्र लोल्लट से ग्रहण किए हैं। लोल्लट की भाँति वे अभिधा शक्ति के योग से ही समस्त रसादि रूप वाक्यार्थ के बोध की संभावना व्यक्त करते हैं; व्यंजना जैसी किसी भिन्न शक्ति की कल्पना उनके अनुसार व्यर्थ का प्रयास है। भट्ट लोल्लट के दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार को धनिक ने तात्पर्य शक्ति की अवधारणा से संयुक्त कर प्रस्तुत किया है। ध्वनिवादी तात्पर्य के अविश्रान्त होने तक तात्पर्य शक्ति का अस्तित्व मानते हैं तथा उसके विश्रान्त होने पर अर्थान्तर-प्रतीति को ध्वनि का विषय स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार वाच्य से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, यह ज्ञान प्रकरणसंवेद्य होता है, उसी प्रकार विभावानुभाव व्यभिचारी के द्वारा स्थायिभाव काव्य के वाक्यार्थ अथवा तात्पर्य के रूप में संवेद्य होता हैं अर्थात् स्थायिभाव वाच्य बुद्धिस्थ रूप में विभावादि से युक्त हो कर रस-रूप में परिणत होता है।[1]

लोल्लट की सरणि पर रस का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते हुए धनंजय उसे मूलत: आस्वादपरक ही स्वीकार करते हैं। 'आनीयमान: स्वाद्यत्वम्[2]' से स्पष्ट है कि स्थायिभाव का उपचित रूप रस आस्वादन का विषय है,

---

१. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थ: कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरै: ॥
दशरूपकम् (चौखम्बा-१९६७) पृ० २४५-४६

२. वही- ४/१, पृ० १८२

किन्तु उपचार-वश उसे आस्वाद रूप कहा जाता है। पुनः, धनिक की, निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः' की व्याख्या में निहित रस की वस्तु-निष्ठता क्रमशः विषयि-निष्ठता की ओर उन्मुख होती हुई रसानुभूति के केन्द्र में सामाजिक को भी स्थापित करती है। **"तेन रसिकाः समाजिकाः काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत्'**[1] में स्पष्टतः रसिक रसानुभवकर्ता मात्र ही नहीं रस का अधिष्ठान भी है।

अनुभूति को काव्यास्वाद के मूल में स्थापित करते हुए धनिक संगीत और काव्य-कला का अन्तर स्पष्ट करते हैं। संगीत में पद या वाक्य अनावश्यक होते हैं, अतः वाच्य और वाचक सम्बन्ध का विशेष उपयोग नहीं हो पाता, जबकि काव्य में पद स्थानीय विभावादि और वाक्य-स्थानीय में स्थायी होने के कारण विशिष्ट विभावादि सामग्री के परिज्ञाता की आवश्यकता बनी रहती है। विशिष्ट विभावादि का बोध रखने वाले तथा रत्यादि भावों से युक्त कुछ विशिष्ट सहृदयों को ही रसपरक आनन्द की अनुभूति होती है। अरसिक विभावादि के ज्ञान से शून्य होने के कारण रसास्वाद के अधिकारी नहीं हैं।[2] इससे यह निष्कर्ष निकालना अप्रासंगिक न होगा कि धनिक की सहृदयविषयक अवधारणा अभिनव की ही सहृदयविषयक दृष्टि का अनुमोदन करती है। इस संदर्भ में धनिक काव्य तथा सहृदय के अन्तःसम्बन्ध को एक अन्य स्तर पर भी व्याख्यायित करते हैं। यह स्तर भट्टनायक के भावना-व्यापार का है। काव्य भावक है और रस भाव्य है तथा ये दोनों सहृदय द्वारा भावना के विषय बनाये जाते हैं। 'काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते[3]।' यह भावना व्यापार केवल काव्य में ही नहीं, मीमांसा इत्यादि में भी देखा जाता है। मीमांसकों ने भावना क्रिया में भाव्य-भावक सम्बन्ध माना है। मीमांसक यागादि क्रिया रूप कारण के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति रूप कार्य की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। इसमें यागादि क्रिया भावक तथा स्वर्गप्राप्ति भाव्य है। काव्य में भी भावक पदों के प्रयोग से ही रस

---

१. वही, पृ० वही

२. विशिष्ट विभावादिसामग्री विदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतेः। (दशरूपकम् पृ० २४८)

३. दशरूपकम् पृ० २५२

की भावना होती है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भावक-भाव्य सम्बन्ध भट्टनायक का उपजीवी है, किन्तु इस सम्बन्ध की स्वीकृति यहाँ शंकुक के अनुमितिवाद के धरातल पर है। प्रश्न यह है कि पदों से स्थायिभावों का परिज्ञान किस प्रकार होता है ? इसका समाधान भावनावादी इस प्रकार देते हैं कि संसार में प्रणयी युगल में जिस प्रकार प्रणय भावों की बोधक चेष्टाएं दृष्टिगोचर होती हैं, वैसी ही काव्य में भी उपनिबद्ध होती हैं।[2] इन चेष्टाओं के द्योतक शब्दों को सुनने से उस अनुभूति का साक्षात्कार हो जाता है। स्पष्टतः इस अवधारणा में यदि मौलिकता है तो वह भट्टनायक तथा शंकुक के सिद्धान्तों के समवन्य में ही लक्षित होती है। फिर भी यह प्रतीत अवश्य होता है कि धनिक किसी नई अवधारणा की ओर संकेत कर रहे हैं। यह अवधारणा चित्रतुरग-न्याय की नई व्याख्या है जो सहृदय के अनुभव-संसार तथा काव्य-परिवेश के अन्तःसम्बन्ध को क्रीडापरक अवधारणा के आधार पर विश्लेषित करती है।

आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त में काव्यास्वाद की क्रीडापरक व्याख्या का भी एक आयाम जुड़ा है, किन्तु उल्लेखनीय यह है कि इस व्याख्या पर भी धनिक मूलतः भट्टनायक्र तथा शंकुक की अवधारणाओं को समन्वित करके ही पहुँचे थे। अतः उन अवधारणाओं का पुनरवलोकन उसी अर्थवत्ता का संकेत दे सकता है। भट्टनायक ने अनुकार्यगत रस का निषेध करने के अनन्तर ही साधारणीकरण की अवधारणा प्रस्तुत की है। धनंजय का कथन है कि रस मूलतः रसिकनिष्ठ है, उसका अनुकार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि अनुकार्य रसानुभूति के क्षण में विद्यमान नहीं रहता[3], अतीत के क्रोड में लुप्त हो जाता है। दूसरा तथ्य यह है कि रसानुभूति अनुकार्य को नहीं सहृदय को होती है। अतः यह भावक का अनुभूत संवेद्यहै। यदि अनुकार्य में रसस्थिति मानी जाए तो लौकिक शृंगार की भाँति एक प्रणयी युगल की प्रणयचर्या मात्र लज्जा,

---

१. भावनाक्रियावादिभिस्तथांगीकृतत्वात् (वही, पृ० २५२)

२. लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः। (वही, पृ० २५३)

३. नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः। (दशरूपकम् पृ० २५३)

ईर्ष्या राग अथवा द्वेष को ही उद्‌बुद्ध कर सकती है।[१] सामाजिक अपने विशिष्ट संस्कार के कारण भी अनुकार्यस्थ रति का आस्वाद नहीं ले सकता, किन्तु रसानुभूति की वास्तविक सत्ता है और यह सत्ता शब्द के माध्यम से आकार ग्रहण करती है। इस प्रकार धनंजय भी लौकिक शृंगार, आराध्यत्व के प्रतिबन्धन[२] तथा अनुकार्य की वर्तमान क्षण में अविद्यमानता को दृष्टि में रख कर साधारणीकरण की आवश्यकता की ओर इंगित करते हैं। काव्यास्वाद की विशिष्टता यह है कि वह सहृदय की अनुभूति के लौकिक ईर्ष्या राग इत्यादि से मुक्त होकर निर्विशेषीकृत रूप में उसके अनुभव क्षेत्र में संक्रमित होता है। धनिक का तर्क है कि काव्य वर्ण्य अथवा नाटक में दृश्यमान पात्र अपने मौलिक रूप में जिस प्रकार आचरण करते थे, इसका अनुसंधान कवि का लक्ष्य नहीं है। कवि योगी नहीं है कि समाधि में ध्यानस्थ हो कर उनकी तत्कालीन अवस्थाओं का इतिहासकार की भाँति यथा-तथ्य विवरण प्रस्तुत करे। वस्तुतः काव्य इतिहास नहीं है, इतिहास का सर्जनात्मक पुनर्भावन है।[3] तात्पर्य यह है कि कवि कल्पना से रामादि की धीरोदात्तादि अवस्थाओं[४] को लोकसंवेद्य धरातल पर प्रस्तुत करता है। वह उनकी लोकमात्र सामान्यता का भावना द्वारा पुनः साक्षात्कार करता है[५] तथा निर्विशेषीकृत स्तर पर सम्प्रेषणीय बनाता हैं। अरस्तु ने भी

१. यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृंगारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शनेन लौकिके इव नायके शृंगारिणि स्वकान्तासंयुक्तं दृश्यमाने शृंगारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्। दशरूपकम् (अवलोक) पृ० २५५

२. कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेन अविरोधः ? दशरूपकम् (अवलोक) पृ० २५५

३. नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामदीनामवस्थामितिहासवदुपानिबध्नन्ति, (अवलोक, द०रू०, पृ० २५५-५६)
तुलनीय - न हि महाकविभिर्वाल्मीकिप्रमुखैरिव ध्यानदृष्टया रामादीनामवस्थाः प्रातिस्विका निरूप्यन्ते, किन्तु रामादिकमाश्रयतया परिकल्प्य स्वप्रतिभाप्रभावलब्धाः सर्वसाधारणा इति। कुमारस्वामी रत्नापण (प्रतापरुद्रीयम्‌मद्रास-१९७० पृ० १९०

४,५. सर्वलोकसाधारण्यात् स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधयो धीरोदात्ताद्यवस्थाः (वही-पृ० २५६)

ऐतिहासिक पात्रों में निहित सार्वभौम देशकालातीत तत्त्वों के सम्भावनात्मक पुनःसर्जन पर विचार किया है। अरस्तु का कथन है कि 'कवि का कर्त्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के आधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है।...परिणामतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। इसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की। सामान्य (सार्वभौम) से मेरा तात्पर्य यह है कि विशेष प्रकार का कोई व्यक्ति सम्भाव्यता अथवा आवश्यकता के नियम के अनुसार किस अवसर पर कैसे बातचीत या व्यवहार करेगा। नाम-रूप से विशिष्ट-व्यक्तियों के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होता है।'[1]

अरस्तु के इस कथन का तार्किक निष्कर्ष यही है कि काव्य सार्वभौम मानव-सत्य की सम्भाव्यता के आधार पर पुनः प्रतिष्ठा करता है। इस सम्भाव्यता में मानव के चरम आदर्शों का सामान्य स्तर निहित रहता है। धनंजय भी धीरोदात्त की परिकल्पना को इसी स्तर पर व्याख्यायित करते हैं। अनुकार्य का मौलिक रूप किसी भी प्रकार का हो सकता है; किन्तु कवि की परिकल्पना से पुनरुद्भावित हो कर वह धीरोदात्त आदि की जिस अवस्था का द्योतन करेगा, वह अवस्था वस्तु-सत्य के मूल में निहित, भाव-सत्य के पुनरनुसंधान का ही पर्याय है। आचार्य द्विवेदी ने 'धीर' विशेषण की व्याख्या करते हुए कहा है 'एक पुराना 'धीर' शब्द भी था जो 'धी' (सहज-बुद्धि, मनोभाव) शब्द से बनता था। इस शब्द से निष्पन्न 'धीर' शब्द का अर्थ होता था सहज बुद्धि वाला, मनोभाव-सम्पन्न। वह शब्द नाट्यपरंपरा में सुरक्षित रह गया है। 'धीर' का अर्थ है स्वाभाविक बोध-सम्पन्न। धीरोद्धत का अर्थ है स्वभावतः उद्धत। नाट्यदर्पणकार देवता और राक्षस आदि को धीरोद्धत कहते हैं। इस प्रकार उदात्त, प्रशान्त, ललित और उद्धत नायक स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, इसलिए उनके साथ 'धीर' विशेषण लगाया जाता है[2]। आचार्य द्विवेदी की इस परिकल्पना को धनंजय की धीरोदात्तविषयक अवधारणा के सामानान्तर रखना प्रासंगिक है। कवि ऐतिहासिक पात्र को प्रजातीय प्रतिदर्शों (आर्किटाइपल

---

१. अरस्तु का काव्य (सम्पादक-डा० नगेन्द्र) इलाहाबाद-२०२३, पृ०२५-२६

२. भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक का भूमिका-भाग, पृ० ४२

पेटर्न्स) के सामान्य बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करता है। आदिकवि की रामसम्बन्धी परिकल्पना मानव के इन्हीं चरमादर्शों के प्रतीक के रूप में निर्मित हुई थी। इस परिकल्पना के अन्तर्गत ही धनंजय पात्र के निर्विशेषीकरण की संभावना व्यक्त करते हैं। जब ये पात्र अपने व्यक्तिनिष्ठ बिम्ब का परित्याग कर जीवन के चरमादर्श के रूप में पुनरनुसंधानित होते हैं तो अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से मुक्त होकर सामान्यीकृत अथवा साधारणीकृत हो जाते हैं **'ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।'**[1] कुमार स्वामी का भी कथन है कि कवि जब मालती आदि विशेष पात्रों को प्रस्तुत करता है तो वे पात्र अपने वैशिष्ट्य से मुक्त होकर अनुभूति मात्र में पर्यवसित हो जाते हैं तथा सहृदय उसमें अपने अभीष्ट प्रिय पात्र का पुनः स्मरण कर सकता है।[2] धनंजय स्वकान्तास्मृति का संदर्भ तो नहीं उठाते, किन्तु यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि सीता जनकतनयात्व के वैशिष्ट्य से मुक्त होकर आराध्यत्व के प्रतिबंध से भी मुक्त हो जाती है। अतः प्रकारान्तर से सहृदय उसमें अपने आदर्श बिम्ब का पुनः साक्षात्कार कर सकता है। राम और सीता सामान्य प्रणयी-युग्म की भूमिका में उसकी चेतना में अवतरित होते हैं। **'तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः'**।[3]

इस चिन्तन के मूल में तर्कयुक्ति की एक विशिष्ट प्रेरणा है, जो भट्टनायक से प्रेरित उक्त मन्तव्य को शंकुक की अवधारणा की ओर मोड़ती है। उल्लेखनीय यह है कि धनंजय का विवेचन शंकुक के समान स्थिति का अति सरलीकरण नहीं करता। धनंजय अपनी संकलपना को प्रख्यात पात्र तक ही सीमित नहीं रखते। सहृदय के अनुभूति क्षेत्र में अन्तर्भावित हो कर प्रख्यात अथवा उत्पाद्य, दोनों ही पात्र अपने मौलिक अस्तित्व में रूपान्तरित हो जाते हैं। स्थिति का एक कोण यह भी है कि कुछ पात्रों के प्रति आराध्यत्व की संकलपना जुड़ी रहती है। उनके उस मौलिक आराध्य रूप को सुरक्षित रखते हुए एक स्तर पर प्रमाता को उनके अगम्यात्व के प्रतिबन्ध से मुक्ति दिलानी है तो दूसरे स्तर पर उनके प्रणय भाव का मौलिक रूप भी

---

१. दशरूपकम् ४/४०, पृ० २५६

२. सामान्यप्रतीतौ विशेषस्मरणमनयोरविनाभावमूलमित्यनुसंधेयम्।
(रत्नापण पृ० १६०)

३. अवलोक पृ० २५६

अनुसंधेय है। धनंजय इसका समाधान अवास्तविक अनुभूति की आस्वाद—भूमिका पर करते हैं। (पंडित राज ने भावना-दोष के रूप में इसकी पुनर्व्याख्या की है।) धनंजय ने शंकुक से प्रेरणा ग्रहण कर काव्यास्वाद को कृत्रिम अनुभूति के अन्तर्गत एक विशिष्ट विन्यास के रूप में व्याख्यायित किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार बालक मिट्टी के बने हुए हाथी आदि से खेलते हुए उत्साह और आनन्द का अनुभव करते हैं तथा उन्हें वास्तविक हाथी समझ कर हृदयसंवाद स्थापित करते हैं, उसी प्रकार काव्य अथवा नाट्य के श्रोता प्रेक्षक भी शब्दोपहित अथवा अनुकृत पात्रों में प्रणय अथवा उत्साह आदि भावों की अभिव्यक्ति देख कर आनन्दित होते है।[1] पात्र की असत्यता काव्यास्वाद में व्याघात उपस्थित नहीं करती, अपितु लौकिक अनुभूति को अलौकिक अनूभूति में परिवर्तित कर देती है। तात्पर्य यह है कि धनंजय काव्यार्थ की आस्वाद्यता उसी भूमिका में स्वीकार करते हैं, जब वह सहृदय के द्वारा ज्ञायमान होकर उसके आत्मानन्द से समुद्भूत हो। सहृदय की मानसिकता ही विविध रसों के साक्षात्कार से विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप जैसी अवस्थाओं में परिणत होती है।[2] धनिक काव्यार्थ के अनुशीलन के साधारणीकरण को अभिनव के स्व-पर-सम्बन्ध के स्वीकार-परिहार की भूमिका पर भी व्याख्यायित करते हैं। काव्यार्थ के द्वारा सहृदय स्व तथा पर के विभाजन को भूल कर अनुकार्य की अवस्थाओं में तद्रूप हो जाता है। **विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः।**[3]

काव्यास्वाद की क्रीडावृत्ति के रूप में व्याख्यायित करने की परम्परा पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र में भी रही है। काण्ट, शिलर, स्पेंसर तथा कोनार्ड लेंज ने क्रीड़ा में सम्मोहन का विवेचन किया है। क्रीड़ा की प्रवृत्ति

---

१. क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः॥
दशरूपकम् पृ० २५६

२. स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥
वही, पृ० २५७

३. अवलोक पृ० २५८

में ऐन्द्रिय सहज ज्ञान, जीवन-शक्ति तथा कल्पना का उद्देश्यहीन उपयोग होता है। क्रीड़ा में एक सहज आत्मसम्मोहन तथा भौतिक विभीषिका से अवास्तविक कल्पना जगत् में अन्तःपलायन का भाव पाया जाता है। क्रीड़ा भी कला की भाँति प्रयोजनातीत होती है। कोनार्ड लेंज तथा ग्रूस ने कलात्मक अनुभूति तथा सामान्य क्रीड़ा के सादृश्य को रेखांकित करते हुए कहा है कि कला और क्रीड़ा के माध्यम से मनुष्य आत्म-वंचना के अहेतुक आनन्दलोक में पहुँच जाता है।[1] किन्तु, कला तथा क्रीड़ा में एक विशिष्ट अन्तर भी है। क्रीडारत शिशु कोई सर्जना नहीं करता, वह केवल अपनी ऊर्जा का विसर्जन करता है जबकि कला में कल्पनात्मक सहानुभूति सक्रिय रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि धनंजय ने क्रीड़ा को विशुद्ध ऊर्जात्मक विस्फुरण अथवा अहेतुक विनोद के रूप में न देखकर पुनः सर्जना की उस भूमि में ही देखा है, जहाँ स्रष्टा अथवा प्रमाता आत्मास्वाद अथवा आत्मानुभूति से कलात्मक पुनःसर्जन करता है। यद्यपि धनंजय ने क्रीड़ा-वृत्ति के किसी दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक संदर्भ को अपनी अवधारणा के मूल में स्थापित नहीं किया है, किन्तु अनुकार्य के काव्योपहित स्वरूप के साथ प्रमाता के अन्तः सम्बन्ध की संकल्पना का एक विशिष्ट धरातल इस व्याख्या से उद्घाटित हुआ है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि धनंजय अथवा धनिक ने सहृदय-निष्ठ रस की व्याख्या करते हुए वस्तुनिष्ठ काव्य-दृष्टि का ही परिचय दिया है। धनंजय विभावों की वस्तुनिष्ठ सार्थकता, भावों का परिज्ञान कराने एवं उन्हें पुष्ट करने में स्वीकार करते हैं। धनिक के अनुसार उनमें एक अतिशयता का गुण होता है[2] जो लौकिक अनुभूति को अतिक्रान्त कर उसे एक संभाव्यता की ओर अग्रसर करता है। यह अतिशयता जहाँ स्वरूप के स्तर पर विभावों को वैशिष्ट्य प्रदान करती है वहाँ समग्र प्रभाव के स्तर

---

१. ......play......is a conscious and voluntary self-deceptive activity, by means of which man provides himself and others with a disinterested pleasure.

The Earl of Listowel (Modern Aesthetics p. 24)

२. एवमयम् एवमियम् इत्यतिशयोक्तिरूपकादिकाव्यव्यापाराहितविशिष्ट-रूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः। (अवलोक पृ० १८३)

पर अनुभूति को सर्वजनसंवेद्य भी बनाती है। शब्दमयी सृष्टि में परिवर्तित होते ही विभावों की लौकिक वस्तुपरकता धूमिल पड़ जाती है तथा संवेदना का आभ्यन्तरीकरण हो जाता है[१]। परिणातमः विभाव बुद्धिस्थ हो कर वर्तमान एवं अतीत के कालिक तथा दिक्परक व्यवधान से मुक्त हो कर भावक की चेतना में पर्यवसित एवं प्रत्यक्षीकृत होते हैं[२]। लौकिक भाव एकान्त व्यक्तिनिष्ठ तथा प्रत्यक्ष संवेदनों से सम्पृक्त होने के कारण साधारणीकृत नहीं होते, किन्तु, शब्दोपहित अथवा अभिनीत होते ही वे केवल संसूचनात्मक नहीं रहते ; अपितु उनमें प्रमाता के भावों को वासित तथा उसके द्वारा अनुभव के स्तर पर ग्राह्य होने की अद्भुत क्षमता आ जाती है[3]। ये अनुभव समानभूतिक स्तर पर स्वयं सामाजिक के अनुभव से अभिन्न हो जाते हैं। वस्तुतः धनिक का यह अनुभावन विभावों की अनुभूति का अज्ञात एवं अनायास आभ्यन्तरीकरण ही है। जिसे ली ने एम्पैथी कहा है[3]। धनिक के अनुसार भावों में जहाँ कवि की अनुभूति को सम्वेदनापरक रासायनिक प्रक्रिया में अनवरत विकसित रखने की स्वाभाविक शक्ति होती है[४],

१. अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मानां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरीवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता। अवलोक पृ० १८४

२. तदुक्तं भर्तृहरिणा-शब्दोपहितरूपास्तान्बुद्धेःविषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते॥
(वही पृ० १८४)

३. एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभायतां साक्षाद्भावकानामनुभवकर्मतयानुभुयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। अवलोक पृ० १८६

३. Empathy signifies an experience in which one identifies himself with an object of perception and seems to participate in its physical sensations, especially in sensations to bodily posture and motion. Empathy is often described as 'an involuntary projection of ourselves in an object. (A Glossary of Literary Terms - Macmillan-1978 P. 46)

४. यत्तु 'रसान्भावयन्भावः, इति, कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः' इति च तत् अभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्।
(वही पृ० १८७-८८)

वहाँ भावक के हृदय को अनुवासित करना भी उनकी मूल प्रकृति के अन्तर्गत ही है[1]।

भोजराज (११वीं शती पूर्वार्द्ध) सरस्वतीकण्ठाभरण, शृंगारप्रकाश

साधारणीकरण सिद्धान्त का भोज ने स्पष्ट रूप से विवेचन तो नही किया है[2], किन्तु अहंकार-सिद्धान्त, शृंगार को एकमात्र रस मानने की अवधारणा तथा भावना-व्यापार के विवेचन के संदर्भ में उन्होंने ऐसे अनेक संकेत दिए हैं, जिनके माध्यम से साधारणीकरण के परिकर वृत्त में आने वाले अनेक संदर्भों पर प्रकाश पड़ता है।

भोज के रस-चिन्तन में मौलिकता का उन्मेष उनकी रस की अभिमान अथवा अहंकारपरक व्याख्या में दिखाई पड़ता है। रस, अभिमान, अहंकार अथवा शृंगार भोज के अनुसार पर्याय ही हैं। प्राणियों की अन्तरात्मा में अहंकार की उद्भूति अदृष्ट के कारण होती है तथा यही आत्मा के सम्यक् गुणों के उन्मीलन का कारण है। निश्चय ही अहंकार कवि अथवा सहृदय की उस अहन्ता का पर्याय नहीं है, जिसका उन्मेष स्वगत प्रतीति के स्तर पर रस में बाधक होता है। यह तो जन्मानुबन्धि संस्कार[3] अथवा रागात्मक चेतना है, जो समप्रभावी संवेदनों से झंकृत होकर दुःख को भी सुख रूप में ग्रहण

---

१. सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः। (वही) पृ० १८७

२. The principle of sadharanikarana is not stated anywhere expressly by Bhoja. (V. Raghavan) Bhoja's Srngara Prakasa, Madras-1963 P. 482

३. रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥
विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।
आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते॥
(सरस्वतीकण्ठाभरणम् (जीवानन्द विद्यासागर कलिकाता-१८६४ ई० पृ० ५३८ (५/१२)

४. आत्मविशेषनिष्ठस्य उत्कृष्टादृष्टजन्मनः अनेकजन्मानुभवसंस्काराहित-द्रढिम्नः। (राघवन) भोज शृंगारप्रकाश) पृ० ४०६ से उद्धृत)

कर अनुकूलवेदनीय बनाती है। इसी के योग से बाह्य परिवेश के क्षीण स्पन्दन भी काव्य की कमनीयता में परिणत होकर आस्वाद्य होते हैं। अतः व्याख्याकार भट्टनरसिंह का कथन है : **'येन रस्यते, येन अनुकूलवेदनीयतया दुःखमपि सुखत्वेन अभिमन्यते, येन रसिकैरहंक्रियते, येन शृंगम् उच्छ्रयो रीयते, स खलु तादृशोऽस्ति।'**[1]

'रसिकैरहंक्रियते' से स्पष्ट है कि अहंकार काव्य की सर्जन प्रक्रिया का ही बीज नहीं है, काव्यास्वाद की भी प्रेरणा-भूमि है। अभिनवगुप्त ने जिस **'सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवाद'**, कहा है, भोज ने उसे **'अनेकजन्मानुभवसंस्काराहितद्रढिम्नः'** के स्तर पर परिभाषित किया है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि यह रसानुभूति विशिष्ट अदृष्ट के कारण ही उत्पन्न होती है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति रसिक नहीं कहला सकता। स्पष्ट है कि भोज रसानुभूति का विवेचन सहृदय की जिस भूमिका के स्तर पर करते हैं, वह अभिजात संस्कारों की अत्यन्त परिष्कृत भूमि है। इसी से सम्बद्ध उनकी अहंकार संबंधी अवधारणा का यह सूत्र है, जो वासना-संवाद को एक सीमा तक व्याख्यायित करता हैं। मनोविश्लेषण में लिबिडो (फ्रायड) तथा एलेन वाइटल (जुंग) के अनेक सिद्धांत भोज की इस अवधारणा की समकक्षता में रखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि अहंकार सामान्य कोटि के लौकिक अभिमान से भिन्न विशेष धर्म है। भोज ने इसका विवेचन ऊर्जस्वित, रसवत् एवं प्रेयस् अलंकारों के परिप्रेक्ष्य में किया है। ऊर्जस्वी रूढाहंकार है। यह रस की पराकोटि तथा मूलभूत सोपान है। रसवत् मध्यमावस्था है, जिसमें अभिमान अनेकधा विभक्त होकर अनेक भावों में परिणत होता है। प्रेयस् की उत्तराकोटि में ये सब भाव समन्वित हो जाते हैं। **'प्रेयः प्रियतराख्यानम् इत्यनेन समस्तभावमूर्धाभिषिक्तायाः रतेः परप्रकर्षाधिगमाद् भावनाधिगमे भावरूपतामुल्लंघ्य प्रेमरूपेण परिणतायाः उपादानात् भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिरिति ज्ञापयन् अहंकारस्य उत्तराकोटिम् उपलक्षयति।'**[2] इस प्रकार भोज केवल एक भाव प्रेम अथवा एक रस शृंगार की ही सत्ता स्वीकार करते हैं, जो रति, हास, उत्साह इत्यादि विविध भावों का परिणत रूप है, क्योंकि युद्ध, परिहास अथवा अमर्ष में मनुष्य इसलिए

---

१. -वही- पृ० ४०८ से उद्धृत।

२. सरस्वतीकण्ठाभरणम् (पूर्ववत्) पंचम परिच्छेद पृ० ७६०

प्रवृत्त होता है कि इनमें वह प्रियता की अनुभूति करता है। अलंकार-कौस्तुभकार कवि कर्णपूर के शब्दों में **'उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्ड-रसत्वतः। सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।'**[1]

स्पष्टत: भोज ने सम्पूर्ण अनुभूति-संघात को शृंगार में अन्तर्भूत कर रस की उस साधारणीकृत चेतना की ओर इंगित किया है, जिसमें विविध अनुभूतियाँ संश्लिष्ट होकर प्रमाता की अनुभूति को एक अखण्ड चेतना में पर्यवसित कर देती हैं।

शृंगारप्रकाश में भोज ने अभिमान, अहंकार एवं शृंगार रस के समीकरण की विशद व्याख्या की है। रस का अधिष्ठाता रसिक है तथा रसिक की आत्मा रस का आश्रय है। यह रसिक अनिवार्यतः प्रेक्षक अथवा सहृदय नहीं है, कवि तथा कथा के पात्र भी रसिक हैं। अहंकार के कारण ही रामादि पात्र में भाव उद्‌बुद्ध होते हैं। ये भाव ही रस हैं तथा इन भावों को अभिव्यक्त करने के कारण काव्य को भी रसाश्रय कहा जाता है। अन्यथा अचेतन होने के कारण शब्दार्थ-रूपात्मक काव्य को रस कहना उपचार मात्र है। इस प्रकार राम (पात्र) और कवि, दोनों रसवान् है। कवि और सहृदय समान हैं, अतः भोज का कथन है कि कवि यदि शृंगारी नहीं हैं, तो सम्पूर्ण जगत् नीरस हो जाएगा।[2] कहने का आशय यह है कि भोज की दृष्टि में रस केवल कवि एवं सहृदय के वस्तुनिष्ठ संबंध को ही द्योतित नहीं करता, अपितु उस हृदय-संवाद की भूमिका की ओर भी इंगित करता है, जो पात्र, पात्रों की विविध चित्तवृत्तियों की अनुक्रिया तथा रसिकों के द्वारा उन अनुक्रियाओं की आस्वाद्यता को संदर्भित करती है।[3] निश्चय ही यह रसिक सुसंस्कृत व्यक्ति है, उसी के रसत्व अथवा आत्म-शक्ति के कारण रसिक संज्ञा चरितार्थ होती

---

१. अलंकारकौस्तुभ पृ० १४५/६

२. शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥ सरस्वतीकण्ठाभरणम् ५/३, पृ० ५३८

३. रसवतो रामादेः यद्वचनं तद् रसमूलत्वाद् रसवत्। अभेदसमध्यारोपाच्च कविना अनुक्रियमाणस्य तस्य अनुकरणमपि रसवत्। शृंगारप्रकाश, भाग-२, पृ० ३७०

है। भोज ने स्पष्ट कहा है कि सभी व्यक्ति अहंकार अथवा श्रृंगार से युक्त नहीं होते। इसके मूल में जन्मानुबंधी संस्कारों की दृढ़ परम्परा अपेक्षित है।

भोज की भावनासंबंधी अवधारणा भी रस, अहंकार तथा श्रृंगार के समीकरण की भूमिका निर्मित करती है। भावना से भोज का आशय एक ऐसी अनुचिन्तनात्मक अथवा कल्पनात्मक प्रक्रिया से है, जिसमें भावों का पुनः पुनः चिन्तन होता है। इस पुनः चिन्तन के द्वारा ही रसिक के हृदय में रस संक्रान्त होता है। प्रकर्ष को प्राप्त भाव, भाव ही रहते हैं, किन्तु रस भावना की सीमा का अतिक्रमण कर सर्वातिशायी और असीम हो जाता है। कहने का आशय यह है कि रति, हास आदि भाव नाना रूपों में भावना पथ में ही विचरण करते हैं। उनका पुनः पुनः अनुचिन्तन जब तक उन्हें एक अखण्ड अनुभूति में परिणत नहीं कर देता, तब तक वे भाव ही रहते हैं, किन्तु जब भावना पथ से अतीत होकर रस अहंकार के रूप में हृदय के द्वारा आस्वाद्य होता है, तभी उसकी रस संज्ञा सार्थक होती है। तात्पर्य यह है कि भावनासम्बन्धी भोज की अवधारणा का भट्टनायक की भावना विषयक संकलपना से यह साम्य साधारणीकरणविषयक भोज के अभिमत को भी व्यंजित करता है। जैसा कि राघवन का कथन है[1] कि भट्टनायक की सत्त्वगुण तथा रस को आस्वादपरक आनन्द-भूमिका भोज के सिद्धान्त में स्थान ग्रहण करती है। भोज के अनुसार जब अनुभूति आत्मा में संक्रान्त होती है, तभी रस कही जाती है। यह आस्वाद सत्त्वगुण-जन्य है। अतः इसमें भट्टनायक के भोजकत्व सिद्धांत का सादृश्य देखा जा सकता हैं। ये भाव प्रकर्ष को प्राप्त होने पर भी भाव हैं, किन्तु भावना पथ का अतिक्रमण कर रस संज्ञा को प्राप्त करते हैं।

आभावनोदयमनन्यधिया जनेन यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः साहंकृते हृदि परं स्वदते रसोऽसौ ॥[2]

---

१. Bhoja's theory shows affinities to Bhatta Nayaka's theory. Bhatta Nayaka it is who analysed Bharata's description of Bhavas and Bharata's Vyutpatti of the word Bhava and arrived at a power in poetic and dramatic expression called Bhavana, (V. Raghavan) Bhoja's Srngara Prakasa p. 482

२. श्रृंगारप्रकाश, भाग-२, पृ० ३६७/८ (राघवन पृ० ४६२ से उधृत)

भोज ने इस भावना-प्रक्रिया के द्वारा ही रसास्वाद की प्रक्रिया को निर्मित किया है। कवि प्रबन्धगत वर्णन के द्वारा विषय-वस्तु को सामाजिक की मानसिक भूमिका में संक्रमित करता है। फलतः सामाजिक की भावना उद्‌बुद्ध हो जाती है तथा वह अनन्य मन से एकाग्र होकर रत्यादिभावित भावों में तल्लीन हो जाता है। पुनः इस भावोदय की भूमिका का अतिक्रमण कर वह अहंकार तत्त्व में अवस्थित क्षेत्र में पहुँचता है तथा आत्म-शक्ति के द्वारा उस अहंकार तत्त्व को आस्वाद का रूप देता है।[1] यह रूप ही शृंगार है। कहने का आशय यह है कि शृंगारात्मक अखण्ड अनुभूति अभिमान तत्त्व का ही परिणत रूप है। इस प्रक्रिया में विभिन्न भावों का रत्यादि भावों में पर्यवसान दिखाकर भोज शृंगार की जिस अद्वैत भूमि का निर्माण करते हैं, वह साधारणीकरण की अद्वैत चेतना ही है, जिसके मूल में हास्य, रौद्र, वीर सभी प्रीतिकर अनुभूति में पर्यवसित होकर शृंगार के विवर्त प्रतीत होते हैं।

महिमभट्ट (१००० ई० के लगभग) व्यक्तिविवेक

काव्यानुभूति प्रमाता में क्षणिक उत्तेजना या गलदश्रुराग-विह्वलता उत्पन्न न करके उसकी निर्णय शक्ति एवं चिन्तन को भी उद्‌बुद्ध करती है, फलतः महिमभट्ट रस को काव्य की आत्मा एवं चरम प्रयोजन स्वीकार करते हुए भी रसानुभूति को मूलतः अनुमान-प्रक्रिया के अन्दर ही विश्लेषित करते हैं।[2] महिम की अनुमान-प्रक्रिया एकांत तर्काश्रित घटना नहीं है, अपितु वह विभावन-प्रक्रिया में निहित उस पौर्वापर्यक्रम की ओर इंगित करती है, जिसमें भावानुभूति के बीच प्रमाता की बौद्धिक चेतना भी सजग रहती है। कुमार

---

१. समस्तभावमूर्धाभिषिक्ताया रतेः परप्रकर्षाधिगमाद् भावनापथातिक्रमे भावरूपतामुल्लंघ्य प्रेमरूपेण परिणतायाः उपादानाद् भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिरिति ज्ञापयन् अहंकारस्य उत्तरां कोटिमुपलक्षयति।

- वही - पृ० वही

२. यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भावमर्हतीति।··· ते हि रत्यादीनां भावानां कार्यकारणसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति, त एव हि प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। इत्यवश्यंभावी तत्प्रतीतिक्रमः।

संभव में वसंत पुष्पों से अलंकृत पार्वती का बिम्ब प्रमाता की शृंगार चेतना को ही उद्बुद्ध नहीं करता, आगामी त्रासद घटना के लिए वह वैषम्यमूलक भूमिका भी निर्मित करता है, जिसमें प्रेम और काम को ध्वस्त करने वाली निवृत्ति-साधना स्वयं ध्वस्त होकर राग-चेतना में विकास पाती है। विसंगति का यह प्रभाव चिन्तन क्रम के द्वारा उद्घाटित होता है जिसकी परिणति इस भाव-सत्य के उन्मीलन में है कि किसी भी क्षण कुछ भी घटित हो सकता है। सब कुछ संभावना की सामान्य कार्यकारणमूलक संकलपना से नियंत्रित नहीं है।[1]

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि महिमभट्ट ने विभाव एवं रति की सहभाव प्रतीति को अस्वीकार कर जिस साध्य-साधन क्रम की (अनुभूति की) अवधारणा प्रस्तुत की है, वह नाट्य-चिन्तन की इस नव्य धारणा को भी पुष्ट करती है कि पात्र क्रमशः प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होते हैं।[2] विविध अन्तःसम्बन्धों के क्रमिक उन्मीलन में ही वे कथ्य की आभ्यन्तर संभावनाओं को संप्रेषित करते हैं।

महिम की दृष्टि में बौद्धिक सजगता काव्यानुभूति का अपेक्षित प्रतिमान है। अभ्यस्त प्रमाता ही व्याप्ति-ग्रहण में समर्थ होता है। अनुभूति का, एक क्षीण सा स्पन्दन (वाच्य) काव्य के मर्मज्ञ के सम्मुख कार्यकारण की सम्पूर्ण शृंखला को मूर्त कर देता है।

> तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
> ख्याप्येते विदुषां वाच्यौ हेतुरेव च केवलः॥[3]

---

१. Cf : Here too the audience can ask what is going to happen next but than anything may happen, so that the answer to this question can not be worked out according to the rules of ordinary probability.

(Martin Eselin) the Theatre of the Absurd, p. 406)

२. Cf : Then the character's responsibility towards others, his place in a family, his relationship to a social group, moves into the field of the spectator's consciousness.

(J L Styan) op. cit. p. 252.

३. व्यक्ति-विवेक (चौखम्बा १९६४) पृ० ६९

महिम के रस-चिन्तन की मूल-शक्ति इसी अवधारणा में निहित है कि काव्यानुभूति मूलतः एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है, जिसमें पौर्वापर्यक्रम निहित रहता है। ध्वनिकार के कथन में भी संलक्ष्यक्रम के गर्भितार्थ निहित हैं। प्रदीप के समान अर्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अर्थान्तर में परिणत होता है। घटादि का बोध करा देने के अनन्तर प्रदीप का प्रकाश समाप्त नहीं हो जाता, प्रदीप को भी प्रकाशित करता रहता है। इसी प्रकार व्यंग्य के प्रतीयमान होने पर वाच्यार्थ का बोध लुप्त नहीं होता, अविनाभाव से उसे आलोकित करता है[1]। वस्तुत:: गम्य-गमक भाव की स्वीकृति वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के प्रतीतिक्रम का ही साक्ष्य देती है। अतः विभावादि के प्रतीत होने पर रस की जिस अविनाभाव से अनुभूति होती है, उसमें कार्य-कारण क्रम निहित अवश्य रहता है, किन्तु वह लक्षित नहीं होता। वाच्य और प्रतीयमान का व्यंग्य-व्यंजक क्रम लिंगलिंगी भाव सम्बन्ध ही है; किन्तु काव्य में साध्य और हेतु का तर्क-शास्त्र निरूपित क्रम अपेक्षित नहीं होता। व्याप्तिमूलक दृष्टांत काव्य की सीमा में नहीं आते। इस संदर्भ में व्याख्याकार रुय्यक का कथन है कि काव्यानुमान तर्कानुमान से विलक्षण है, चमत्कार ही उसका सार है[2]।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनुमान-प्रक्रिया भी मूलतः साधारणीकरण की उस प्रक्रिया को ही रेखांकित करती है, जिसके विषय में अभिनव का कथन है कि साधारणीकरण परिमित नहीं होता, अपितु धूम और अग्नि की व्याप्ति के समान व्यापक होता है तथा देशकाल आदि के नियामक तत्त्वों से मुक्त होकर साधारणीकरण पुष्ट होता है। **'तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्। अपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः। भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।'**[3]

व्याप्तिग्रहण की प्रच्छन्न स्वीकृति अभिनव के मन्तव्य में भी है। मूल तथ्य यह है कि देशकालपरक प्रतिबन्ध विशिष्ट व्यक्तियों और लौकिक

---

१. -वही- पृ० ६६

२. काव्यानुमानं तर्कानुमानविलक्षणं काव्यस्य चमत्कारसारत्वात्।

३. नाट्यशास्त्रम् भाग-१, पृ० २७९

स्थितियों की ही अवतारणा करते हैं, किंतु काव्य-भूमि में त्रासक और त्रस्त का भय-कम्प दुष्यन्त और हरिण तक ही सीमित न रहकर सामान्यीकरण की व्यापक भूमिका में पहुँच जाता है। आशय यह है कि काव्य में निहित व्याप्तिसंबंध लौकिक व्याप्ति संबंध से इस अर्थ में भिन्न है कि लोक में हेतु और साध्य अवास्तविक तथा देशकाल के बन्धन से एकान्तमुक्त नहीं होते। महिम भी काव्य के व्याप्तिसंबंध अथवा गम्यगमकभाव की लौकिक अनुमान-प्रक्रिया से भिन्नता स्वीकार करते हैं।[1]

लोकानुभूति एवं काव्यानुभूति में अन्तर स्पष्ट करते हुए महिमभट्ट प्रकारान्तर से इस तथ्य की ओर भी इंगित करते हैं कि रति आदि भावों की विशिष्ट स्थिति में सहृदयों को सुख नहीं मिल सकता। **ननु कुतोऽयंरत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसम्भवः।**[2] लोक में भी अश्रु आदि को देखकर साध्यभूत शोक आदि का अनुमान होता है, तथा व्यक्तित्वांश के तिरोहित न होने से उनसे शोक और दौर्मनस्यादि की अनुभूति हो सकती है। यह प्रश्न उन्होंने पूर्व पक्ष के रूप में उठाया है, किन्तु इस तथ्य से उनकी पूर्ण सहमति है कि काव्य का एक मौलिक स्वभाव है जो लोक स्वभाव से भिन्न विभावन व्यापार की सृष्टि हैं। अत: लौकिक हेतुओं की अपेक्षा विभावादि गुणात्मक स्तर पर भिन्न होते हैं तथा उनके द्वारा भावों का अनुभव ही रसास्वाद है और यही सहृदयों द्वारा संवेद्य हैं।[3] स्पष्टत: यह साधारणीकरण के उस प्रमुख पक्ष की आवृत्ति है, जिसमें लौकिक अनुभव

---

१. तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाक्यव्यंग्यप्रीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति।

तत्र हेत्वादिभिरकृत्रिमैरकृत्रिमा एव प्रत्याय्यन्ते। तत्रैषामनुमेयत्वमेव न व्यंग्यत्वगन्धोऽपीति, कुतस्तत्र सुखास्वादलवोऽपि सम्भवति। एष एव लोकत: काव्यादावतिशय इत्युपपद्यत एव रत्यादौ गम्ये सुखास्वादप्रयोजनो व्यंग्यत्वोपचार इति।

(व्यक्ति-विवेक पृ० ७८)

२. व्यक्ति-विवेक पृ० ७०

३. यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदयः (वही, पृ० ७०)

विशिष्ट मानसिक अन्तराल के द्वारा काव्यानुभूति में परिणत होता है। उन्होंने आनुवंश्य श्लोक में इसे परसंविद्‌गोचरता कहा है[1], जिसकी व्याख्या करते हुए रुय्यक कहते हैं कि यह अनुभव लोकोत्तर प्रतीति से अभिन्न है तथा अपने ज्ञान का आकार बनकर विषय रूप से स्फुरित होता हुआ परसंवेदन का विषय बनता है। 'तथाभूतः सन् परसंवित्तिगोचरः लोकोत्तरायाः प्रतीतेरभिन्नोऽपि साकारतया विषयत्वेन स्फुरन्नास्वादस्वभावः।'[2] स्पष्टतः यह चेतना की उस अतीन्द्रिय स्थिति का आस्वाद है जो वैयक्तिकता का अतिक्रमण करती हुई काव्य-वस्तु को एक ओर तो निषेधात्मक स्तर पर लौकिक प्रयोजनों अर्थात् देशकालपरक प्रतिबन्धों से मुक्त (निर्वैयक्तिक) करती है और दूसरी ओर धनात्मक दिशा में मानसिक अन्तराल के द्वारा उनका व्यक्ति-चेतना से मुक्त अनुभावन भी कराती है।[3]

लोक में जो रामादिनिष्ठ विशेष रत्यादि मानसिक अवस्थाएँ हैं, वे कविवर्णित अर्थ को आत्मसात् करके रसों को भावित कराती हैं। इसी स्तर पर महिम प्रत्यक्षानुभूति तथा काव्यानुभूति में अन्तर स्पष्ट करते हैं। प्रत्यक्ष साक्षात् संवेद्यमान अर्थ उतना चमत्कारपूर्ण नहीं होता, जितना कवि की वाणी में उद्भूत होकर वह सहृदयों को चमत्कृत करता है। वस्तुतः कवि की प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत पदार्थों में सहृदय को भाव-तन्मय करने की अद्भुत शक्ति निहित होती है। प्रत्यक्ष पदार्थों से वह अनुभूति उतनी स्फुरित नहीं होती, जितनी अभिव्यंजना में रूपान्तरित होकर। प्रत्यक्षानुभूति का प्रश्न भट्टनायक ने स्दगत प्रतीति के संदर्भ में उठाया है। प्रत्यक्षानुभूति में स्रष्टा, द्रष्टा अथवा भोक्ता का व्यक्तित्व अनुभूति विषय से एकान्तमुक्त नहीं हो पाता। उसकी मानसिकता, राग, द्वेष, आस्था अथवा पूर्वाग्रह के अनेक स्तरों से संयुक्त

---

१. भावसंयोजनाव्यंग्यपरसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥ (वही, पृ० ७०)

२. वही, (विमर्श) पृ० ७१

३. C.f. It has a negative, inhibitory aspect, the cutting out of the practical sides of things and of our practical atttitude to them-and a posit!ve side-the elaboration of the experience on the new basis created by the inhibitory action Distance. (Edward Bullough) Distance And Dehumanization P. 396

रहती है, किन्तु कवि प्रतिभा से अन्तर्भावित होकर वह अनुभूति रस रूप में भाव्यमान होती हैं। महिम का कथन है कि कवि शक्ति से समर्पित पदार्थों में सामाजिक को तन्मय कर देने की विलक्षण क्षमता होती है। इसका सम्भावित कारण यह है कि प्रत्यक्षानुभूति मूलतः भावना तथा कल्पना को देशकाल से नियंत्रित पदार्थों तक सीमित रखती है, जबकि अनुमान पर आश्रित अनुभूति प्रमाता की कल्पना को देशकालातीत संदर्भों में मुक्त कर देती है।

'कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ॥' इति ।[1]

महिम के अनुसार अनुमान वस्तु के वाह्य बोध मात्र में सीमित नहीं है। उसकी भूमिका काव्यार्थ की निःसीम व्यापकता से लेकर सहृदय की अन्तश्चेतना में निहित संस्कारों के पुनरनुसंधान एवं पुनरुद्बुद्धि तक व्याप्त है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अनुमान-प्रक्रिया के मूल में प्रमाता तथा काव्यार्थ के अन्तःसंबंध का निरूपण रागात्मकता तथा बौद्धिकता के विशिष्ट संधिस्थल पर है। वाच्यार्थ और अनुमेयार्थ में व्याप्ति-संबंध स्वीकार कर लेने पर एक ओर तो बोध का अनियंत्रित व्यापार औचित्य की सीमा में आ जाता है, दूसरी ओर अर्थ-बोध में पौर्वापर्य क्रम स्वीकार कर लेने पर उसमें रागतत्त्व के साथ बौद्धिकता के अनुषंग भी समाहित हो जाते हैं।

महिम ने इस प्रक्रिया को प्रतिबिम्बकल्पा अनुभूति के स्तर पर व्याख्यायित किया है। कवि जब कृत्रिम विभावादि को स्थायिभाव में अन्तः प्रतिबिम्बित कर अनुभूति का विषय बनाता है तो उसमें हृदय-संवाद की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। कहने का आशय यह है कि काव्यानुभूति (अथवा हृदयसंवाद) एक साथ दो ध्रुवों पर सक्रिय होती है। कवि तथा उसके अन्तश्चैतन्य से निःसृत काव्यार्थ उसका एक ध्रुव है तथा प्रमाता अथवा सहृदय का ग्रहणशील अन्तश्चेतन इसका दूसरा ध्रुव। अतः जो रति आदि भाव काव्यार्थ में उद्भिन्न होते हैं, उन्हीं के प्रतिबिम्ब प्रमाता के हृदय में संस्कार रूप में पूर्वतः विद्यमान रहते हैं, उनके साक्षात्कार से वे

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ७५

उद्बुद्ध हो जाते हैं। सहृदय अथवा प्रमाता अपने अन्तश्चैतन्य में निहित भाव संस्कारों को काव्यार्थ के भाव प्रतिबिम्बों के द्वारा पुनरनुसंधान कर उनका आस्वाद लेता है। इस प्रकार इस प्रतिबिम्बन के मूल में अन्तर्दर्शन की अनुभूति सक्रिय है, जिसमें प्रमाता अपने भाव संस्कारों का प्रतिबिम्बकल्प अनुमानजन्य आस्वाद ग्रहण करता है। ये भाव प्रतिबिम्ब अथवा मिथ्या हो सकते हैं, किन्तु प्रमाता में वे जो रसानुभूति जगाते हैं, वह वास्तविक होती है। अतः महिमभट्ट का कथन है कि विभावादि कृत्रिम एवं मिथ्या होते हुए भी प्रमाता के स्थायिभाव में निहित तुल्य प्रतिबिम्ब में संक्रांत कर दिए जाने पर वास्तविक तथा हृदय-संवाद के कारण आस्वाद्यता को प्राप्त होते हैं।[1]

इस अवधारणा को दृष्टि में रखकर यह कहना अब प्रासंगिक होगा कि अनुमिति का वस्तु-निष्ठ आधार लेकर भी महिम प्रमाता के भाव संस्कारों को कम महत्त्व नहीं देते। नायक अथवा नायिका का चरित्र काव्य अथवा नाटक में वर्णित होकर तब तक मिथ्या एवं कृत्रिम रहता है, जब तक सहृदय की मानसिक भूमि में पुनरनुसंधानित होकर उसकी अनुभूति का विषय नहीं बन जाता। एक स्तर पर यह कवि-प्रयुक्त भावमय भाषा अथवा अभिव्यंजना कौशल का भी परिणाम है जिसके माध्यम से कवि का संवेद्य पाठक या प्रेक्षक में समान अनुभूति जगाता है। इस प्रकार कवि अथवा अनुकर्ता द्वारा प्रस्तुत किए गए कृत्रिम स्थायी एवं विभाव प्रमाता अथवा सामाजिक द्वारा अनुभूयमान होकर मात्र अनुकार्यनिष्ठ नहीं रहते, सामाजिक के संस्कार का अभिन्न अंग बन जाते हैं, जिन्हें महिम ने प्रतीति-परामर्श की संज्ञा से अभिधानित किया है। **'विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्स्वेष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति व्यपदेशा मुख्यवृत्त्या उपपद्यन्त एव, तत्प्रीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविकः।'**[2] स्पष्टतः परामर्श शब्द महिमभट्ट की रस-प्रक्रिया को सामाजिक के रागात्मक

---

१. 'यतस्तैरैव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। न च कारणादिभिः कार्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः सहैव प्रकाशितुमुत्सहन्ते कार्यकारणाभावावसायस्यैवावसादप्रसंगात्।

(व्यक्ति-विवेक, पृ० ८३)

२. व्यक्ति-विवेक पृ० ७४

संस्कारों के स्तर पर व्याख्यायित करता है।

परवर्ती चिन्तकों ने अनुमानवाद का खण्डन इस आधार पर किया है कि अनुमान में विशुद्ध हेतु आवश्यक है, जबकि काव्य में हेतु अवास्तविक होते हैं। अनुमान-प्रक्रिया में अनेकान्तिक विरुद्ध और अशुद्ध हेतुओं के कारण निःशेष-च्युत···श्लोक में आचार्यों ने चन्दनच्यवन, रागराहित्य आदि हेतुओं को सम्भोग मात्र का ज्ञापक न मानकर उनके अनुमापक-सम्बन्ध का निषेध किया है, वहाँ व्यंजनावादियों ने उपपत्ति सिद्धि के लिए ऐसी अनिवार्यता को अपेक्षित नहीं माना है। **एवंविधादर्थदिवंविधोऽर्थ [उपपत्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तत् अदूषणम्।**[1] कहने की आवश्यकता नहीं, महिम शास्त्रीय एवं काव्यहेतुओं के द्विविध प्रयोगों में स्पष्ट अन्तर मान कर चलते हैं। सहृदयों के लिए गम्य और गमक की सत्यता का प्रश्न निरर्थक है। लोक में वास्तविक पदार्थों से अवास्तविक पदार्थों का बोध कराया जाता है। किन्तु उनकी अनुमेयता में व्यंग्यत्व का संस्पर्श न होने से उनमें सुखात्मक आस्वाद का अंश भी सम्भव नहीं होगा। '**तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाच्यव्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति।**'[2] रिचर्डस के अनुसार काव्य में विसंगति हेत्वाभास एवं अतिशयता का अनिवार्य संस्पर्श पाया जाता है। संवेग की वास्तविकता का सम्प्रेषण तथ्य की अवास्तविकता से धूमिल नहीं बनता, अधिक जीवन्त बन जाता है। वैज्ञानिक भाषा में अभ्युदेशनों की तार्किक संगति आवश्यक है, काव्य भाषा में यह महत्वहीन है।[3]

स्पष्टतः व्यंजना में निहित हेत्वाभास एवं विसंगति काव्य-तत्त्व के भावन में बाधक न होकर साधक ही हैं, वस्तुतः महिम यह स्वीकार करते हैं कि जब लौकिक अनुमान में अकृत्रिम पदार्थों से कृत्रिम पदार्थों का प्रत्यायन कराया जाता है, तो उनमें अनुमेयता तो होती है, किन्तु व्यंग्यत्व की अनुपस्थिति के

---

१. काव्य प्रकाश (बालबोधिनी), पृ० २५१

२. व्यक्ति-विवेक, पृ० ७८

३. But for emotive language the widest differences in reference are of no importance if the further effects in attitude and emotion are of the required kind.

Principles of literary criticism p. 211

कारण उनकी अनुभूति एकान्ततः प्रीतिकर नहीं होती।[1] आशय यह है कि लोकानुभूति एवं काव्यानुभूति की स्पष्ट चेतना महिमभट्ट के रस-चिन्तन को अपने संदर्भ में विशिष्टता प्रदान करती है। इस आधार पर उनके योगदान का यदि मूल्यांकन करें तो उनके रस-निरूपण में मौलिकता के उन्मेष तथा विषय में उपस्थित जटिलताओं के सुलझाने के स्तुत्य प्रयास के वैशिष्ट्य को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। 'रसनिष्पत्ति के विषय में महिमभट्ट की देन कम महत्त्व की नहीं है। ये प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने विभावादि के लौकिक हेत्वादि से पार्थक्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। और इस प्रकार काव्यानुभूति के लौकिक अनुभूति से सर्वथा भिन्न होने की प्राचीन आचार्यों की उक्तियों के लिए आधार का प्रतिपादन हो गया। मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों ने महिम की सरणि पर ही विभावादि की हेतुता का खण्डन किया है।'[2]

महिम ने यद्यपि साधारणीकरण का स्पष्ट विवेचन नहीं किया है, तथापि प्रमाता के भाव-संस्कार किस प्रकार कवि द्वारा समर्पित कृत्रिम विभावों के साक्षात्कार से उद्बुद्ध होकर प्रतिबिम्बकल्प नायक और नायिका को पुनरनुसंधानित करते हैं, यह प्रक्रिया स्वयं में साधारणीकरण की अवधारणा को ही प्रकारान्तर से रेखांकित करती है। प्रेक्षक उन्हीं भावों का आस्वाद करता है. जो उसके भाव-संस्कारों में निहित प्रतिबिम्ब के अनुरूप काव्यादि से उद्बुद्ध होते हैं। परवर्ती चिन्तक विश्वेश्वर ने चमत्कार-चन्द्रिका में इस तथ्य की पुष्टि की है। प्रतिबिम्बवाद के समकक्ष महिम ने विभावादि के द्वारा असत्य रत्यादि के अनुभावात्मक परामर्श का आख्यान कर सामाजिक के भाव-संस्कार को एक नया आयाम दिया है। असत्यमूलक रत्यादि से वास्तविक काव्यानुभूति के अनुसंधान की प्रक्रिया का विवेचन भी साधारणीकरण की अवधारणा के परिकर में ही आता है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र (१२ वी शती का पूर्वार्द्ध) नाट्यदर्पण

रामचन्द्र गुणचन्द्र रसस्थिति को परमार्थ (लोक में) तथा अपरमाथ (काव्यनाटक इत्यादि लोकोत्तर) दोनों रूप में स्वीकार करते हैं। लोक में

---

१. व्यक्ति-विवेक पृ० ७८

२. डा० व्रजमोहन चतुर्वेदी (महिमभट्ट, (दिल्ली-१९६८) पृ० २२०)

तो विशेषनिष्ठता और सामान्यनिष्ठता दोनों संभव हैं, किन्तु काव्य-नाट्य में सामान्यविषयक ही रसानुभूति होती है।

पूर्ववर्ती आलंकारिक नियतविषयता के अतिक्रमण के अनन्तर अनियत-विषयता के स्तर पर साधारणीकरण को स्वीकृति प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में लौकिक तथा लोकोत्तर काव्य-भूमि में स्पष्ट विभाजक रेखा है, किन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र रिचर्ड स की भाँति ही लौकिक अनुभूति और काव्यानुभूति को गुणात्मक स्तर पर भिन्न नहीं मानते।[1] रिचर्ड्स के अनुसार सामान्य अनुभूति की अपेक्षा काव्यानुभूति में अनुभूतियों का सामंजस्य अधिक व्यापक होता है, उसमें आवेग अधिक मात्रा में परितृप्त होते हैं, फलतः हम वस्तुओं को अधिक निर्विशेषता और व्यापकता से देख सकते हैं तथा इतर उपादानों से असंपृक्त हो जाते हैं।[2] काव्यानुभूति के क्षण में अनुभूतियों की सामान्य प्रकृति उभर आती हैं और इसी के समानान्तर हमारी अभिप्रवृत्ति निर्वैयक्तिक हो जाती हैं। विविध आवेग व्यवस्थित और संघनित हो जाते हैं। नाट्य-दर्पणकार का कथन है कि लौकिक चित्तवृत्तियाँ ही विशिष्ट रूप में अन्वित होकर रस रूप में परिणत होती हैं। **चित्तवृत्तिविशेषो हि रसः।** लौकिक चित्तवृत्ति की अपेक्षा कलात्मक अभिप्रवृत्ति में अन्तर यह है कि एक व्यक्ति की अनुभूति दूसरे की अनुभूति में बाधक नहीं होती और न वह अनुभूतियों के संघात और उनके सामंजस्य को आघात पहुंचाती है, उसमें विशेषता की अपेक्षा सामान्यता उद्‌बुद्ध हो जाती है।[3]

नाट्यदर्पणकार का यह सिद्धान्त कि किसी एक का रसास्वाद अन्य प्रमाताओं की रसानुभूति में बाधक न होकर ही बहुसाधारणत्व की ओर उन्मुख

---

१. एवं च लोके काव्यं वा सर्वरसिकसाधारणो रसास्वादो···।
(ना० द० दिल्ली - १९६१, पृ० २९९)

२. Our emotion assumes a more general character, and we find that correspondingly our attitude has become impersonal. The various impulses......have becomc further systematised and intensified.

(1.A. Richards Foundations of Aesthetice 2nd ed. p. 75)

३. 'अभिनय-काव्यार्पितानां च विभावानां बहुसाधारणत्वाद् य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा, इत्ययोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्ययोग-व्यवच्छेदेन। (नाट्यदर्पण पृ० २९८)

होता है, रिचर्ड्स की इस अवधारणा से साम्य रखता है कि कोई कृति अनेक मूल्यवान अनुक्रियाओं को प्रमाताओं के अनेक स्तरों पर घटित करती है। वह विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों को समीकृत करती है। नाट्यदर्पण-कार ने 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' के सिद्धांत का सूत्रपात कर रसानुभूति के प्रमुख संदर्भ की ओर ध्यान आकर्षित किया है। काव्य-नाटक में एक का रसास्वाद दूसरे व्यक्तियों के रसास्वाद के निषेधक के रूप में नहीं होता। लोक में रसास्वाद विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित होता है, किन्तु काव्य का रसास्वाद साधारणीकृत होता है। प्रकारान्तर से नाट्य-दर्पणकार रसास्वाद में बहुसाधारणत्व पर बल देकर भी व्यक्ति-प्रमाता के एकान्तिक रसास्वाद की उपेक्षा नहीं करते। व्यक्ति प्रमाता उस अनुभव-खण्ड का समान भोक्ता है, वह अयोग-व्यवच्छेदेन उसका आस्वाद करता है। विभावन की प्रक्रिया के अन्दर वह पात्रों की मूल प्रकृति का क्रमशः अनुसंधान करता हुआ स्वयं को ही क्रमशः उद्घाटित करता चलता है। किन्तु यह आत्मानुसंधान मूल प्रकृति के अनुभूति-संश्लेष के अन्दर ही घटित होता है। अतः वह अन्य प्रमाताओं के रसास्वाद में बाधक नहीं होता। वह अन्य का प्रतिक्षेपक नहीं होता अर्थात् उसकी अनुभूतियों में स्वगतप्रतीतिमूलक रागद्वेष बाधक नहीं होते।

लौकिक रति में सामान्य और विशेष मूलक विभाजन होता है, किन्तु लोकानुभूति के स्तर पर सामान्य अनुभूति की प्रकृति काव्यानुभूति से भिन्न होती है, उसमें अनुभूतियों की समाहिति संघनित न होकर व्याहत होती हैं। एक वनिता का अनेक पुरुषों में अनुराग हो सकता है, किन्तु वह अनुभूतियों के उस सामंजस्य के प्रतिकूल होगा, जिससे पराकोटि को प्राप्त रति शृंगारता में परिणत होती है। उसकी अनियतविषयता अद्वन्द्वमयी समाहिति की अपेक्षा सामंजस्य की शिथिलता का आभास देती है।

यत्र तु परानुरक्तां वनितामवलम्ब्य सामान्यविषया रतिरुपचयमुपैति तत्र न नियतविषयः शृंगाररसास्वादः। विभावानां सामान्यविषये स्थाय्याविर्भावकत्वात्।[1]

उल्लेखनीय यह है कि सामान्यविषया लौकिक रति में भी नाट्य-दर्पणकार रसवत्ता का एकान्त निषेध करके नहीं चलते, पात्रों, विभावों तथा

१. नाट्यदर्पण पृ० २६७

उनकी रति को रस-संज्ञा से अभिधानित करते हैं। यह स्पष्टत: प्राचीन शास्त्रीय परम्परा से भिन्न दृष्टि है। किन्तु जैसा हमने ऊपर स्पष्ट किया है, वे लौकिक तथा काव्यगत रसानुभूति में प्रकृतिगत अन्तर स्वीकार नहीं करते। वे सम्प्रेषणीयता के भिन्न माध्यमों तथा अनुभूतियों के सामंजस्य के स्तर पर उनमें गुणात्मक भेद करके चलते हैं। कवि की अभिव्यंजनाकौशल तथा नट के कलानैपुण्य का भिन्न माध्यम पाकर सामान्यानुभूति ही काव्यानुभूति में परिणत होकर प्रमाता की बुद्धि को सम्मोहित करती है एवं हृदयसंवादिता का अधिक व्यापक आयाम पाती है। दूसरा तथ्य अनुभूतियों के व्यापक सामंजस्य तथा उनकी अद्वन्द्वमयी प्रकृति से सम्बद्ध है। सामान्यानुभूति अन्य अनुभूतियों से निरन्तर व्याहत होती रहती है। उसमें रागद्वेष आदि का निरन्तर अनुप्रवेश होता रहता है। किन्तु काव्यानुभूति अन्ययोगव्यवच्छेदक होती है। अत: लोक की नियतविषया (विशेष रति) काव्य-भूमि में अनियत-विषया होकर साधारणीकृत होती है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि सामान्यविषया रति भी पुन: साधारणीकृत होती हैं।

लोक में नियतविषया रति विभावों के अविद्यमान होने पर स्मर्यमाण हो सकती है। उसमें व्यक्ति विशेष की मूर्ति ही स्मृति में उद्वेलित होगी।[1] काव्यास्वाद की एक कोटि यह भी हो सकती है कि 'पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशष आ आती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है, तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।[2] स्पष्टत: शुक्ल जी की अवधारणा लौकिक (परमार्थ) भूमि के काव्यास्वाद की साधारणीकृत भूमिका की ओर बाह्य स्तर पर गतिशील होती है, जबकि रामचन्द्र गुणचन्द्र रसानुभूति के इस व्यक्तिनिष्ठ आयाम को संकीर्ण काव्यास्वाद की भूमिका में रखते हैं। वे इस

---

१. यत्र विभावा: परमार्थेन सन्त: प्रतिनियतविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति तत्र नियतविषयोल्लेखी रसास्वादप्रत्यय:। युवा हि रागवर्ती युवतिमवलम्ब्य तद्विषयामेव रतिं शृंगारतयास्वादयति (ना० द० पृ० २९६)

२. चिन्तामणि भाग - १ पृ० २३०

तथ्य से परिचित हैं कि प्रमाता की भावना में स्मर्यमाण होकर विशेष की कल्पित मूर्ति उद्भूत होती है;[1] किन्तु यह प्रतिनियत-विषयता अपेक्षाकृत संकीर्ण विभावन है। वास्तविक विभावन व्यापार नाट्य-दर्पणकार के अनुसार अपरमार्थ स्तर पर घटित मानसी साक्षात्कारात्मिका वृत्ति जैसा है, जिसमें काव्य का अभिनय के द्वारा भावोपनीत पात्र (विभाव) काव्य के श्रोता अनुसंधाता और प्रेक्षक, तीनों के स्थायिभाव सामान्यविषयक रतिरूपता को प्राप्त होते हैं। यहाँ रसास्वाद में ममत्व, परत्व, सामान्य, विशेष का विभाजन अप्रासंगिक होता है।[2] स्पष्टतः यह काव्यानुभूति की परम व्यापक असंकीर्ण भूमि है, जिसमें नियतप्रमातृत्व का विगलन होकर विभावादि का भी साधारणीकरण होता है। राम का सीताविषयक श्रृंगार सीता से सम्बद्ध व्यक्तिविशेषपरक श्रृंगारानुभूति मात्र नहीं रहती, अपितु सामान्य स्त्री-विषयक रति में परिवर्तित हो जाती है।[3]

स्पष्टतः नाट्य-दर्पणकार साधारणीकरण की भट्टनायक द्वारा निरूपित अवधारणा स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु काव्यास्वाद और लोकानुभूति के अन्तः संबंध को वे जिस यथार्थ-मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं, उसमें अनुभूतियों के सामंजस्य के गुणात्मक कोटि क्रम की आधुनिक अवधारणा उनके चिन्तन को विशिष्ट बना देती है।

शारदातनय (तेरहवीं शती ईस्वी का मध्य) भावप्रकाशन

साधारणीकरण के सम्बन्ध में शारदातनय का मौलिक योगदान भट्ट-नायक के रसाभिमत का शैवदर्शन की पारिभाषिक पदावली में पुनः संस्कार है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने कुछ ऐसे सूत्र दिये हैं, जिससे साधारणीकरण के इतर आयामों के पुनः परिष्कार का उपक्रम लक्षित होता है। भोजराज की भाँति शारदातनय भी अहंकार को रसमात्र में अनुस्यूत रहने वाले मूल

---

१. नियतविषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियत-विषय एव रसास्वादः। (ना० द० पृ०२९८)

२. ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोतृअनुसन्धातृ-प्रेक्षकाणां सामान्यविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति अत्र च विषयविभागानपेक्षी रसास्वादप्रत्ययः। (ना० द० २९८)

३. अपि तु सामान्यस्त्रीविषयः (वही)

तत्त्व के रूप में परिभाषित करते हैं। अहंकार अथवा अभिमान शब्द के प्रयोग से इस तथ्य की ओर भी ध्यान जाता है कि रस की मूल प्रकृति आनन्दात्मक शृंगार को ही अनुभूति के केन्द्र में प्रतिष्ठित करती है। इस संदर्भ में शारदातनय का कथन है कि माधुर्य के समान कटुतिक्त आदि रस भी जिस प्रकार समय तथा व्यक्ति की विशेष रुचि एवं मानसिकता के अनुरूप आह्लाद प्रदान करते हैं, उसी प्रकार वीर करुण भयानक आदि रसों की नाट्यात्मक अथवा काव्यात्मक प्रस्तुति भी विभिन्न रुचि के श्रोताओं की विभिन्न अनुभूतियों को आन्दोलित करती हैं।[1] ये सभी प्रतीतियाँ भिन्न हो सकती हैं, किन्तु आह्लाद एवं आस्वाद का तत्त्व इन्हें एक सूत्र में अनुस्यूत करता हैं, क्योंकि रस मूलतः आह्लादस्वरूप है।[2]

रस नायक अथवा नायिका के अहंकार या अभिमान का आस्वाद है, जो गुणों तथा भावों के अनुरूप विविध रूपों में अभिव्यंजित होता हैं। जब नाट्य-प्रस्तुति के क्षण में प्रेक्षक भी नायक-नायिका की चित्तवृत्तियों से तादात्म्य कर उन्हीं की मानसिकता में अनुप्रवेश करते हैं तो पात्र-विशेष के प्रति अपने चित्त में अभिमान का उद्रेक होने पर वे भी रावण द्वारा संत्रस्ता सीता के कारुण्य या भीम और हनुमान के उत्साहोद्रेक का अनुभव करते हैं। इस प्रकार प्रेक्षक की मनोभूमियों में अहंकार की विविध विवृतियां विवर्तों के रूप में उद्भूत होती हैं। रस नायक-नायिका के अहंकार और अभिमान का ही प्रोद्भास हैं जो भाव और गुणों के अनुरूप विविध रूपों में प्रेक्षक की चित्तवृत्ति में संक्रांत होता है।

'प्रमदाद्यनुभावेन भावितो वासितो रसः।
तत्तद्रूपस्याभिनयैः सभ्येषु व्यज्यते स्फुटम्॥

---

१. यथा नृणां तु सर्वेषां सर्वेऽपि मधुरादयः।
मुक्ता रसात्मतां यान्ति देशकालादिभेदतः॥
तथा जाता जनिष्यन्तो जायमानाः परस्परम्।
परस्परस्य सर्वत्र मित्रोदासीनशत्रवः॥
तस्मात्सामाजिकैः स्वाद्या रसवाच्या भवन्ति ते।
प्रकृतीनां च भिन्नत्वादवस्थादिविभेदतः॥
(भावप्रकाशन, बड़ौदा, १९६८, पृ० ४०)

२. - वही - पृ० ४०

संवित्प्रकाशानन्दात्मा गम्यः स्यात्स्वानुभूतितः ।
अहंकाराभिमानात्मा बाह्यार्थेषु प्रकाशते ॥[1]

तथ्य यह है कि शृंगार आदि विविध रसों की अनुभूति में अहंकार ही कारण है तथा जिस प्रकार की मनोवृत्ति अथवा अनुभूति होती है, अहंकार या अभिमान उसी मनोभाव में परिवर्तित हो जाता है ।[2]

प्रेक्षकों का मन रजोगुण तथा सत्त्व गुण से युक्त होता है । रजोगुण के उद्रेक से ही वह सक्रिय होकर बाह्य वस्तु में प्रवृत्त होता है । बाह्य वस्तु के प्रति अहन्ता का भाव अभिमान है किन्तु यह अभिमान ममत्व की संकीर्ण परिधि में अनुभूति को केन्द्रित नहीं करता । वह दृश्य वस्तु के अनुरूप उसे वैविध्य का आयाम देता है । विविध रसों की अनुभूति मूलतः प्रेक्षकों की मनोवृत्ति अथवा अभिमान का ही विविध रूपों में विस्तार है ।[3] जहाँ तक प्रेक्षक द्वारा नाट्यानुभूति के ग्रहण करने का प्रश्न है, शारदातनय शंकुक की चित्रतुरग-न्याय पर आधृत अनुमानप्रक्रियाजन्य अनुभूति से सहमत नहीं हैं ।[4] शारदातनय प्रेक्षक की रसानुभूति के स्वरूप और प्रक्रिया के विवेचन में भट्टनायक की अभिधा भावकत्व और भोजकत्व के त्रिक का अनुसरण करते हैं, किन्तु रसानुभूति के परब्रह्मानन्दपरक स्वरूप में शैव दर्शन के अनुरूप किंचित् परिष्कार करते हैं । भट्टनायक के अनुसार यह व्यापार लौकिक स्मृति से विलक्षण लोकोत्तर रसानुभव है, जबकि शैव दर्शन के अनुरूप इसकी

---

१. भावप्रकाशन पृ० ४१

२. - वही - पृ० ४३
साऽभिमानात्मिका वृत्तिस्तत्तदिन्द्रियगोचरा ।
बाह्यार्थालम्बनवती शृंगारादिरसात्मताम् ॥
याति तत्र विभावादिभेदाद्भेदं प्रयाति च ।
विभावा ललिताः सत्त्वानुभावव्यभिचारिभिः ॥

३. यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाट्यकर्मणि ।
अष्टावेवानुभूयन्ते तासूडा (क्ता) स्तै रसाः पृथक् ॥
(भावप्रकाशन पृ० ४६)

४. चित्रै लिखितवस्तूनां मन्यन्ते कृत्रिमात्मताम् ।
सर्वेऽपि यत्ततश्चित्रतुरगात्मा न धीर्भवेत् ॥
नटादेश्चेतनत्वेन चित्रस्याचेतनत्वतः । (वही पृ० ५१)

लौकिक चेतना को एकदम विस्मृत नहीं किया जा सकता। प्रमाता मूलतः जीव की भूमिका में है तथा राग, विद्या और कला, इन तीन तत्त्वों से संसार के सुख-दुःखों का अनुभव करता है। अतः उसकी अनुभूति को एकान्त लोकोत्तर सुखात्मक अनुभूति नहीं कहा जा सकता।

जीव अपने लौकिक नित्यप्रति के जीवन में विविध अनुभूतियों का संग्रह करते हैं तथा रंगमंच अथवा काव्यपाठ में उन्हीं अनुभवों का साक्षात्कार करने के कारण उनके लौकिक संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। उस तन्मयता के क्षण में वे अपनी लौकिक अनुभूतियों को विस्मृत कर काव्य-वस्तु अथवा दृश्य-वस्तु से तदाकार हो जाते हैं। शारदातनय ने इस प्रक्रिया को भोग प्रक्रिया कहा है। प्रेक्षक शोक, भय, ग्लानि से उद्‌भूत करुण, भयानक वीभत्स आदि रसों का भी इन्हीं आत्मस्थ राग विद्या और कला के द्वारा चर्वण करता है। इनमें राग सुखत्व का अभिमान है तथा विद्या नामक तत्त्व अविद्या से आच्छन्न चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाला रागात्मक उपादान है। इसी चैतन्य की मल से अवरुद्ध आत्मा को प्रदीप्त करने वाला तत्त्व कला है, अतः रसानुभूति मात्र सुखात्मक अनुभूति नहीं है, लौकिक अनुभूति के समकक्ष यह अनिवार्यतः दुःखात्मक अनुभूतियों से भी मिश्रित है।[1] शारदातनय की अवधारणा निराधार नहीं है। स्वयं भरत ने **'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्'** तथा कालिदास ने **'त्रैगुण्योद्‌भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।'** के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की है। लौकिक जीवन का अनुकीर्तन होने के कारण नाटक की तुलना सांसारिक जीवन से ही की जा सकती है। अतः वह ब्रह्मानन्द के समकक्ष न होकर सांसारिक आनन्द के ही समकक्ष रसानुभूति का प्रेरक है। कहने का आशय यह है कि शायदातनय रसानुभूति का विश्लेषण मूलतः प्रेक्षक की वैविध्यमयी चित्तवृत्ति के स्तर पर करते हैं। उनकी साधारणीकरण की अवधारणा भी उनकी अभिमानाश्रित इसी अवधारणा का विकास है, जिसकी पुष्टि के लिए वे भट्‌टनायक का आंशिक समर्थन प्राप्त करते हैं। उनका कथन है कि सहृदयों का आत्मास्वाद ही नायक-नायिका के अनुभावों से वासित और तदाकार होकर उनके भावाभिनय से साधारणीकरण रूप में आह्लादकर प्रतीति का रूप ग्रहण करता है।[2]

---

१. भावप्रकाशन, पृ० ५२-५३

२. तादात्विकेन प्रमदाद्यनुभावेन वासितः।
स्वादः सहृदयानां यो ह्लादात्मा हृदयंगमः॥ (पृ० ५२)

विद्यानाथ (१३वीं शती का अन्तिम चरण) प्रतापरुद्रीयम्

अभिनव तथा परवर्ती रसचिन्तक रस का आश्रय मूलतः सामाजिक को ही स्वीकार करते हैं। रस उसी की वासना का विकास अथवा आत्मास्वाद है। अभिनव के विपरीत विद्यानाथ साधारणीकरण प्रक्रिया की व्याख्या रस के नायक (अनुकार्य) निष्ठ स्वरूप के अन्तर्गत करते हैं। विद्यानाथ के अनुसार रस नायकाश्रित है तथा सामाजिक नट के नैपुण्य अथवा काव्य बल से उसे अन्तर्भावित करता है। इस प्रकार परगत रस भी सम्यग्भावित होकर परम आह्लाद की सृष्टि करता है।[1] इस प्रक्रिया में मालती शब्द योषित मात्र तथा रावण शब्द शत्रु मात्र की प्रतीति कराने लगते हैं, क्योंकि सामाजिक की स्मृति पर आरूढ़ तथा अपने विशिष्ट व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित अभिलषित प्रेमास्पद अथवा अनभिलषित शत्रु इन विशेष पात्रों के वैशिष्ट्य को तिरोहित करके उभरने लगते हैं; तथा मालती एवं रावण का साधारणीकरण हो जाता है।

अत एव मालत्यादिशब्देभ्यो योषिन्मात्रप्रतीतौ (रावणादिशब्देभ्यः शत्रुमात्रप्रतीतौ च) स्मृत्यारूढेन तत्तद्योषिद्विशेषेण सामाजिकाश्रयत्वमपि न विरुद्धम्।[2]

वस्तुतः इस प्रक्रिया के तीन सोपान हैं—प्रथम स्तर पर प्रमाता की चेतना में मालती आदि विशिष्ट पात्र शृंगार-रस की भूमिका में अवतीर्ण होते हैं। दूसरे स्तर पर उसके प्रेमास्पद का बिम्ब उतकीर्ण होता है तथा तृतीय

स भावाभिनयात्साधारणीकरणरूपया।
भावकत्वव्यापियया भाव्यमानः स्वभाववत्॥
भोगेन संविदानन्दमयेनैवोपभुज्यते।
भोक्तृभोग्यार्थसंबन्धप्रकारश्चाभिधीयते॥

-(वही - पृ० ५२)

१- अत्र रसो नायकाश्रय एव। यदि परं निपुणनटचेष्टया तथाविध-काव्यश्रवणबलेन च सामाजिकैः साक्षात भाव्यते, तदा परगतस्यापि रसस्य सम्यग्भावनया परत्र निरतिशयानन्दजननमविरुद्धम्

(प्रतापरुद्रीयम् पृ० १९०)

२ वही, पृ० १९०

स्तर पर इस बिम्ब में संक्रमित होकर नायक अथवा नायिका के वैशिष्ट्य का लोप हो जाने से उसका निर्विशेषीकरण अथवा साधारणीकरण हो जाता है। फलतः सामाजिक उस रति का आत्मस्थ रूप में आस्वाद करता है। व्यापक अर्थ में लौकिक रस अनुकार्य में स्थित है, किन्तु नाटक में वह सामाजिकस्थ हो जाता है।

लोके स्यादनुकार्य एव कथितो नाट्ये तु सामाजिके।[1]

उल्लेखनीय यह है कि साधारणीकरण की विशिष्ट प्रक्रिया का आख्यान करते हुए भी विद्यानाथ साधारणीकरण शब्द का प्रयोग नहीं करते, किन्तु राघवन के अनुसार सामाजिकाश्रयत्व को साधारणीकरण की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा सकता है,[2] जिसका आशय यह है कि रस की सामाजिक में स्थिति मौलिक नहीं, आगन्तुक है। सामाजिक में रस-स्थिति का संक्रमण ही साधारणीकरण है, जिसके बीज कवि कल्पित पात्रों में निहित होते हैं। टीकाकार कुमारस्वामी इस संदर्भ की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विशेष का स्मरण तथा सामान्य की प्रतीति इस प्रक्रिया में अभिन्न रूप से संश्लिष्ट है। **सामान्यप्रतीतौ विशेषस्मरणमनयोरविनाभावमूलमित्यनुसंधेयम्।**[3] काव्य में विशेष की विवक्षा नहीं होती, क्योंकि कवि ऐतिहासिक पात्रों का इति-वृत्तात्मक निरूपण नहीं करता, अपितु उन पात्रों को आश्रय बनाकर अपनी अन्तर्दृष्टि से उन्हें सर्वसाधारण का आलम्बन बना देता है।[4] उन पात्रों के साक्षात्कार से प्रमाता की स्मृति उद्बुद्ध होती है और अपने अभिलषित पात्र का उसमें आरोप कर वह उनका निर्विशेष रूप से आस्वाद करता है।[5]

---

१. वही पृ० १६५

२. According to Vidyanatha it is the Rasa of another of, the Nayaka, that the Samajika by attunement, enjoys. By the process of sadharenikarana, this samajikasrayatva can be accepted. -(V. Reghavan, 'Prataparudriya', P. 25

३. प्र० रु० पृ० १६०

४. न हि महाकविभिर्वाल्मीकिप्रमुखैरिव ध्यानदृष्ट्या रामादिनामवस्थाः प्रातिस्विका निरूप्यन्ते, किन्तु रामादिकमाश्रयतया परिकल्प्य स्वप्रतिभा-प्रभावलब्धाः सर्वसाधारणा इति। (रत्नापणव्याख्या, पृ० १६०)

५. ननु सामाजिकानां श्रूयमाणमालत्यादिविशेषपरिहारेण स्वाभिलषित-नायिकास्मरणे किं प्रमाणमिति न शंकनीयम्। (वही, पृ० १६०)

इस कथन में सत्य का यह अंश अवश्य है कि कविनिबद्ध पात्र कवि की अनुभूति का ही मूर्त साधारणीकृत रूप है और प्रमाता अपनी भावना में विनिर्मित मूर्ति के अनुभावों से ही उसे अपनी वासना में संक्रमित करता है।

विद्यानाथ की अवधारणा लोल्लट शंकुक की लोकोन्मुख तया अभिनव की आदर्शीकृत रस दृष्टि की स्वाभाविक परिणति है। जैसा कि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि अनुकार्य अथवा नायक का आद्य-बिम्ब प्रमाता की अन्तश्चेतना में बद्ध मूल होता है तथा प्रमाता आत्म स्तर पर उसका पुनरनुसंधान करता है। लोल्लट के चिंतन का यह मिथकीय मनोवैज्ञानिक यथार्थ है। विद्यानाथ उक्त प्रक्रिया को अनुमान प्रक्रिया से संयुक्त कर देते हैं, जिसमें प्रमाता अपनी स्मृति में बद्धमूल कान्ता-मूर्ति को नाटकीय पात्रों की मानसिकता में प्रक्षिप्त कर रस को आत्मनिष्ठ कर लेता है। स्पष्टतः अभिनव तथा भट्टनायक 'स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्' जैसे शब्दों में उक्त प्रक्रिया का निषेध करते हैं, जबकि रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इसे प्रतिनियत विषयक रसास्वाद की कोटि में रखा है। इसमें स्मर्यमाण व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध ही रसास्वाद होता है।

'नियतविषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः। (नाट्यदर्पण पृ० २९८)

वस्तुतः विद्यानाथ का प्रस्तुत चिंतन लौकिक भाव दशा तथा रस की लोकोत्तरता के स्पष्ट पार्थक्य के निषेध का परिणाम है। रस के भावित होने पर विद्यानाथ भी आस्वाद को आत्मास्वाद ही मानते हैं।

'निर्वेदाद्युपभोगभावितनिजास्वादातिरेको रसो।'[1]

कुमार स्वामी के अनुसार—**निर्वेदादीनामुपभोगेन चर्वणया भावित उत्पादितः निजः स्वगोचर इत्यर्थः। स्वस्मादभिन्नस्यापि स्वरूपस्य स्वेनैव विषयीकरणसंभवात्। यदाहुः—'आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्' इति तथाभूतः स्वादातिरेकोऽलौकिकचमत्कारात्मा यस्य स तथोक्तः सन् रसोऽखण्डानन्दात्मको भवति।**[2]

स्पष्टतः अनुकार्यगत रसाश्रय का जहाँ तक प्रश्न है, कुमारस्वामी के अनुसार इसमें सत्य का यह अंश अवश्य है कि रस को यदि क्रमगलित

---

१. प्र० रु० रस-प्रकरणम् ६४ श्लोक पृ० १६५

२. रत्नापण टीका पृ० १६५

वेद्यान्तर माना है[1], तो यह औपचारिक प्रयोग है। ब्रह्मास्वाद में चरमानन्द के अतिरिक्त अन्य अनुभूति नहीं होती, किन्तु रस में विभावादि की वेद्यता तो बनी ही रहती है, विभावेतर पदार्थों का परिज्ञान अवश्य नही होता।[2] अतः विभावादि की सत्ता की आद्योपान्त अनुभूति इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि रस की सत्ता नायक में ही है, सामाजिक तो उसका स्वयं पर आरोप मात्र करता है। नरहरि के अनुसार काव्यास्वाद लौकिकास्वाद का ही रूपान्तर है, जो कलात्मक अनुभूति में परिणत होकर उच्चतर स्तर के आनन्द में परिणत हो जाता है। जिस प्रकार ब्रह्मानन्द योग के द्वारा गम्य है, रस विभावादि के अनुसंधान से ग्राह्य है। **'इयांस्तु विशेषः ब्रह्मानन्दो योगगम्यः अयं तु विभावाद्यनुसंधानगम्यः।**

रूपगोस्वामी (१६वीं शती उत्तरार्द्ध) भक्तिरसामृतसिन्धु

चैतन्यमत के अचिन्त्य-भेदाभेदपरक दार्शनिक सिद्धान्त के अनुयायी रूपगोस्वामी के भक्तिरसामृतसिन्धु में साधारणीकरण की अवधारणा भक्तिरस की पीठिका पर आधृत है; किन्तु कठिनाई यह है कि भक्ति स्वयं में रस की वह वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्या स्थिति है, जिसमें कामनाएँ निःशेष हो जाती हैं, ज्ञान और कर्म का आवरण भंग हो जाता है तथा एक मात्र कृष्ण की ही संविद्गोचरता शेष रह जाती है। नारदपंचरात्र का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं—सब प्रकार की उपाधियों से विनिर्मुक्त विशुद्ध तन्मयता से समस्त इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण का सेवन भक्ति कहलाता है।[3]

अन्य रसों की परिणति जिस आत्मविश्रान्ति रूप में होती है, भक्ति रस की यह प्रस्थान भूमि है। साधारणीकरण के लिए असाधारणता की पूर्वस्थिति आवश्यक है। नामरूपात्मक नायक-नायिका के क्रमशः निर्विशेषत्व में परिणत

---

१. प्र० रु० पृ० १६३

२. रत्नापण पृ० १६४

३. अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥ (प्रथमा सामान्यभक्तिलहरी)
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० १०, ११)

होने के अनन्तर ही प्रमाता की चित्तवृत्ति उनमें अन्तर्लीन होती है, किन्तु भक्तिरस में प्रमाता की आराध्यता के साथ ही तदाकारता की अनुभूति होती है। उसमें विभावादिसाधारणीकरणात्मा वाली स्थिति नहीं आती। जैसा कि मधुसूदन सरस्वती का कथन है—**तदाकारतैव हि सर्वत्र वृत्तिः शब्दार्थास्माकं दर्शने**। वस्तुतः साधारणीकरण में जो स्थिति साध्य है, वह यहाँ सिद्ध स्थिति है। भगवदाकारता अमिश्रित भावना नहीं है; इसमें प्रेम की तन्मयता और श्रद्धा की तटस्थता का योग है। यशोदा की कृष्ण के प्रति वत्सलता की अनुभूति के साक्षात्कार में प्रमाता कृष्ण का शिशु के रूप में साधारणीकरण ही नहीं करता, आराध्य के विराट् माहात्म्य के सम्मुख लघुता की अनुभूति से श्रद्धानत भी रहता है, अतः कथा के विभिन्न पात्रों की अन्तर्लीनता कृष्ण में जिस रूप में घटित होती है, उससे सहृदय के मनोविश्रान्ति गुणात्मक स्तर पर भिन्न होती है। साधारणीकरण भेदाभेद प्रक्रिया से घटित होता है, जिसमें प्राचीन परिभाषा के अनुसार प्रमाता के चिदावरण भंग होने से आनन्दांश का प्रादुर्भाव अवश्य होता है, किन्तु विभाव का सामान्यीकरण नहीं होता। अतः अभेद बुद्धि की परम्परित स्वीकृति भक्तिरस में नहीं है। अभेद बुद्धि के स्तर पर परमात्मा के स्वरूप में रूपान्तरित होने वाले भाव को रूपगोस्वामी स्वीकार नहीं करते।[1] साधारणीकरण की मूल स्थिति अभेदरूपता '**तदभावभावितस्वान्ताः**'[2] तक ही समीचीन है। यही कारण है कि भक्तिरस में साधारणीकरण की भूमिका मूलतः प्रमातापरक है। भगवद्रति में स्वयं रसरूपता है। प्रौढ़ प्रमाता उसके श्रवण मात्र से अलौकिक रसास्वाद में निमग्न हो जाता है, किन्तु नवीन रत्यंकुर होने के कारण अप्रौढ़ प्रमाता को काव्य और नाटक की किंचित् विभावकता रति को उद्बुद्ध एवं पुष्ट करने में योग अवश्य देती है।[3]

रति एकरूप होते हुए भी प्रमाता की विशेषताओं के कारण विभावादि के द्वारा अनेक रूपों में उद्भावित होती है। इस संदर्भ में यह तथ्य भी उल्लेख-

१. भ० र० सि० (पूर्वविभागे तृतीया भावलहरी), का० ३०-३१ पृ० १०४
२. तदेव, पृ० १७६
३. नवे रत्यंकुरे जाते हरिभक्तस्य कस्यचित्
विभावत्वादिहेतुत्वं किंचित्तत्काव्यनाट्ययो:
हरेरीषच्छ्रुतिविधौ रसास्वादः सतां भवेत्। (पृ० ३००)

नीय है कि लौकिक विभाव अनेक बार विपरीत प्रभाव उत्पन्न कर वैरूप्य की सृष्टि भी कर सकते हैं[1]। अतः काव्य-नाट्य द्वारा पुनर्भावन की अपनी सार्थकता है, क्योंकि इसमें भाव साधारणीकृत हो जाते है।[2] जीवगोस्वामी के अनुसार भक्त प्रमाताओं की रति का प्राचीन प्रमाताओं की तदनुरूप रति से सायुज्य हो जाता है, अतः उनकी लौकिक रति भी साधारणीकृत होकर अलौकिक हो जाती है।[3] लौकिक स्तर पर राधा और कृष्ण की लीला में स्वगत और परगत प्रतीति का भेदांश बना रहने से वैरूप्य हो सकता है[4], किन्तु अलौकिक स्थिति में इन भावों का प्रवेश नहीं हो सकता। काव्य में श्रवण के समय निरन्तर अन्तरनुसंधान की प्रक्रिया चलती रहती है, जिसमें आत्मनिष्ठ दुःख या परनिष्ठ सुख विलीन हो जाते हैं और आनन्द का आविर्भाव होता है।[5] इसका परिणाम स्व-पर-सम्बन्ध का अनिर्णय है अर्थात् प्रमाता की अपने परिमित भाव से मुक्ति। यह अभिमत अभिनव तथा विश्वनाथ से प्रेरित है। रूपगोस्वामी ने इसे भरतोक्त कहा है। रूपगोस्वामी की दृष्टि मे स्व-पर-सम्बन्ध का यह निषेध ही प्राचीनोक्त साधारणीकरण अथवा साधारण्य है। इस स्तर पर वे साहित्य-दर्पण की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं कि विभावादि में साधारणीकरण की अपूर्व शक्ति होती हैं, जिसके कारण प्रमाता अपनी परिमित चेतना में विभावादि से अभेद की अनुभूति करने

---

१. वैरूप्यं तु विभावादेरनौचित्यमुदीर्य्यते।
अलौकिक्या प्रकृत्येयं सुदुरूहा रसस्थितिः।

२. यत्र साधारणतया भावाः साधु स्फुरन्त्यमी।
एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः
साधारण्यं तदेवोक्तं भावानां पूर्वसूरिभिः।
(दक्षिणविभागे पंचमस्थायिभावलहरी (का० ८३-८४), पृ० ३०१)

३. तादृशी रतिरेव प्राचीनभक्तानां भावैः सहार्वाचीनानां भावान् साधारण्य मानयति साधारण्यप्रापकेण भावेन येन रसस्थितिरपि तादृशी स्यात्।
(दुर्गसंगमिनी पृ० ३०४-३०५)

४. रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन व्रीडातंकादिभर्वेत् परगतत्वेन रस्यता न स्यात् इति भावः। मुनिवाक्ये तु भेदांशः स्वयमस्ति। (पृ० ३०५)

५. तत्काव्याद्वक्तृमुखाद्वा संक्षेपात् श्रुतस्य तच्छ्रवणादिसमयेऽप्यन्तर नुसंधान [illegible] भवेति यथा सीताहरणादौ। तदेव पृ० ३०६

लगता है।[1] निश्चय ही यह उक्ति भक्तिरस की मौलिक चेतना की विसंवादी उक्ति नहीं है। इसमें विभावों का निर्विशेषीकरण नही होता, अपितु वे अपनी आभ्यन्तर शक्ति अथवा मूल प्रकृति के प्रभाव से प्रमाता में अभेदानुभूति सी जाग्रत करते हैं। अतः जहाँ स्वसम्बद्ध से प्रतींत होने वाले लौकिक दुःख अलौकिक आनन्द में परिवर्तित हो जाते है, वहाँ पराश्रित से प्रतीत होने वाले सुख भी आनन्द में ही परिणत हो जाते हैं। निश्चय ही प्रस्तुत चिन्तन प्राचीन रस-चिन्तन की आधार भूमि पर ही विकसित है, किन्तु जहाँ अन्य रसों में अनुकार्य में रस-स्थिति की परिकल्पना स्वीकार्य नहीं हो सकी है, वहाँ भक्ति रस में अनुकार्य की अलौकिक रति ही भक्तों के द्वारा आस्वाद्य होती है, क्योंकि कृष्ण-लीला-परिकर के विभाव प्रमाता की चेतना में इतने संस्कारावस्थित एवं बद्धमूल हैं कि उनका संकेत मात्र ही मनश्चक्षुओं के सम्मुख उनकी लीलाचेष्टाओं एवं संवादी विसंवादी अनुभूतियों की शृङ्खला रूपायित कर देता है।[2]

स्पष्टतः रूपगोस्वामी ने परम्परानिष्ठ साधारणीकरण की अवधारणा को भक्तिरस के अनुरूप व्याख्यायित करने में किंचित् अन्तर्विरोध का आश्रय लिया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वे अपनी अवधारणा को भरत, अभिनव अथवा विश्वनाथ का परम्परापुष्ट समर्थन प्रदान करना आवश्यक समझते हैं। अतः व्याख्या के स्तर पर उक्त अभिमतों को किंचित् परिवर्तित रूप में स्वीकार करना प्रासंगिक अनिवार्यता है। वस्तुतः विभावादि में परित्यक्त-विशेषता-हेतु का अभाव तथा अनुकार्यनिष्ठ रति की स्वीकृति की पृष्ठभूमि में श्रद्धा एवं प्रेम के भेदाभेद संबंध पर आधृत प्रमाता की भगवद्रति का साधारणीकरण ही रूपगोस्वामी को इस संदर्भ में अपेक्षित है।

---

१. शक्तिरस्ति विभावादेः काऽपि साधारणीकृतौ ॥८४॥
प्रमाता तदभेदेन स्वं यया प्रतिपद्यते।
दुःखादयः स्फुरन्तोऽपि जातु स्वीयतया हृदि ॥८५॥
प्रौढानन्दचमत्कारचर्वणामेव तन्वते।
पराश्रयतयाप्येते जातु भान्तः सुखादयः ॥८६॥
(दक्षिणाविभागे पंचमस्थायिभावलहरी, पृ० ३०२)

२. श्रीकृष्णलीलापरिकरगतविभावादैः किंचिन्मात्रस्यापि सद्भावश्चेज्जायत आधुनिक तत्तत्सवासनभक्तानां हृदि यदि भवति तदा विभावानुभाव सात्त्विकसंचारिण इति चतुष्टयस्याक्षेपात् स्फोरणात् पूर्णतैवोपपद्यते सिद्ध्यति। (जीवगोस्वामी, दुर्गसंगमिनी पृ० ३०६)

रसशास्त्रीय ग्रन्थ एवं साधारणीकरण:

अल्लराज (१६०३ ई० शती के लगभग) रसरत्नप्रदीपिका

रसरत्नप्रदीपिका रससम्बन्धी एक सामान्य पुस्तिका है, जिसमें रस और रसांगों के सामान्य लक्षण एवं उदाहरण देने पर लेखक की दृष्टि विशेष केन्द्रित रही है। साधारणीकरण जैसे शास्त्रीय विषय को उनकी रस की स्निग्ध भूमि में अवकाश नहीं मिला है, तथापि लेखक ने उन कतिपय अवधारणाओं का संकेत अवश्य दिया है, जिनका विवेचन साधारणीकरण की कुक्षि में ही आता है। सहृदय में रस का अधिवास, रस की ब्रह्मास्वादपरक अलौकिक स्थिति तथा काव्यार्थ का प्रत्यक्षायमाणत्व, ऐसे ही कतिपय बिन्दु हैं। अल्लराज का कथन है कि सुखी स्थिरमनस्क सहृदयों में रस वासना रूप में अवस्थित रहता है।[1] हृदय से उनका आशय वासना-संयुक्त बुद्धि से है, जो अर्जित ज्ञान-संस्कार से निरन्तर परिष्कृत होती रहती है।

प्राचीनवासनायुक्ताप्यङ्गविद्याभिराश्रिता।
बुद्धिर्या हृदयं तां च कथयन्ति विचक्षणाः।'[2]

रसास्वाद में रागतत्त्व के साथ विचारतत्त्व का अनुप्रवेश भी अनिवार्य है। अल्ल की यह मान्यता निश्चय ही व्यापक है। उनके अनुसार रस, वासनारूप और व्यक्त रूप दो प्रकार का होता है। सहृदय में वासना रूप में स्थित रस अव्यक्त है, जो अभिनेताओं अथवा काव्य-निबद्ध पात्रों के द्वारा अभिव्यक्त होकर भावित होता है।

'तद्बीजबोधकान्भावानधिगम्य जनैः कृतान्।'[3]

बीभत्स तथा करुण रस की आनन्दरूपता पर भी अल्लराज ने विचार किया है, किन्तु उनका समाधान भी परम्परित सरणि पर ही है। यथा दुःख सामग्री से भी सुख उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जैसे कुछ स्थलों पर त्रासद अथवा पीड़ाकर अनुभूति भी प्रीतिकर होती है।

---

१. एवं सहृदयानां च सुखीनां स्थिरचेतसां।
नियतं वासनारूपो रसस्तिष्ठति मानसे ॥ (रसरत्नप्रदीपिका पृ० ३८)

२. वही, पृ० ३८

३. वही, पृ० ३८

कुछ स्थलों पर नखांकन अथवा अधरखण्डन आनन्द कर ही होते हैं।

'कुत्रचिद्दुःखसामग्रयात्सुखमुत्पद्यते ध्रुवम् ।
प्रहारो दुःखमूलं हि क्रीडासमयकल्पितः
जायते च सुखायैव तद्वत् चरणकुट्टनम्
खंडनं वाधरस्यैव नखांकानि कुचस्थले ॥

इत्थं यत्सुखरूपेण नरो गृह्णाति चेतसा ।'[1]

निष्कर्ष रूप में अल्ल कहते हैं कि सुख दुःख मूलतः मन की ग्रहणशीलता पर निर्भर है। प्रमाता दुःख को भी यदि सुख की मानसिक भूमि पर ग्रहण करता है, वह सुख ही होता है। यही कारण है कि काव्य की मानसी भूमि में लौकिक दुःख सुखमय हो जाते हैं।

अतस्तु लौकिकं यत्तु तदेव दुःखवर्धनम् ।
रसरूपं यदेतच्च सर्वं हि सुखसुन्दरम् ।[2]

इसी संदर्भ में काव्य की चरम आनन्दरूपता का प्रश्न भी उठता है, जिसका विवेचन अल्ल ने परम्परित सरणि से किंचित् हट कर किया है। अल्ल के अनुसार सुख नित्य एवं अनित्य दो प्रकार का होता है—नित्य ब्रह्मस्वरूप, अनित्य विषयोद्भूत है। नित्य विरल है तथा अनित्य नाना रुचियों को समाहित करता है, फिर भी वह इतना प्रीतिकर नहीं है। रस की स्थिति इन दोनों की मध्यवर्तिनी हैं।[3] यही उसकी अनिर्वाच्यता का रहस्य है। प्रकारान्तर से इसमें यह संकेत निहित है कि विषयोन्मुख सुख में नाना रुचियों के समाश्रयण के कारण साधारणीकरण की अधिक सम्भावना है। शान्त स्वयं वेद्यान्तर-शून्य स्थिति है। उसकी अपेक्षा शृङ्गार का साधारणीकरण अधिक सरल है। कुमारस्वामी ने भी रत्नापण टीका में काव्यास्वाद एवं ब्रह्मास्वाद का मौलिक अन्तर इसी भूमिका पर स्पष्ट किया है। '**इयांस्तु विशेषः। ब्रह्मानन्दो योगगम्यः। अयं तु विभावाद्यनुसंधानगम्य इति। इदमपि**

---

१. र० र० प्र०, पृ० ४४

२. वही, पृ० ४४

३. नित्यं ब्रह्मस्वरूप हि अनित्यं विषयोद्भवम् ।
प्रचारो विरलस्तस्य लोकेऽस्मिन् विषयोन्मुखे ॥
यत्सुखं विषयोत्थं हि नानारुचिसमाश्रयम् ।
तदेव बहुधा भिन्नं प्रान्ते नैवातिसुन्दरम् ॥ (वही, पृ० २)

तेनैवोक्तम्—'सर्वत्रैकेवानन्दव्यक्तिर्लोके किं सुखमिति व्यवह्रियते। अलौकिक-विभावाद्यभिव्यक्त्या कविसमयमात्रप्रसिद्ध्यनुसारादलौकिको रस इति कथ्यते।'[1] वस्तुत: प्राय: आचार्यों ने ब्रह्मास्वाद को स्थायी तथा काव्यास्वाद को अस्थायी (विभावादिजीवितावधि) मान कर ही परितोष ग्रहण कर लिया है। इस दृष्टि से उक्त अभिमतों का अपना मूल्य है। अल्लराज प्रसंगप्राप्त स्थलों पर इन उल्लेखों के अतिरिक्त किसी शास्त्रीय चर्चा में नहीं पड़े हैं।[2] फिर भी कतिपय संदर्भ उल्लेखनीय अवश्य हैं। उनका अभिमत है कि काव्य में वर्ण्यमान होकर लौकिक तथा अति-प्राकृत तत्त्वों में रसास्वादन की अद्‌भुत क्षमता आ जाती है। कवि-मेधा का स्पर्श पाकर अतीतकालीन दृश्य भी मनश्चक्षुओं के सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठते हैं।

आलंकारिकों ने भाविक अलंकार के अन्तर्गत प्रत्यक्षमाणत्व का विवेचन किया है। परवर्ती चिन्तकों की सर्वहृदय-साधारण्या दशा इसी के समकक्ष है। रुय्यक ने तो स्पष्टत: इसकी विवेचना साधारणीकरण की भूमि से ही की है[4]। अभिनव की 'पुर इव प्रस्फुरन्' जैसी शब्दावली भी इसी भूमिका की तलस्पर्शी है।

शिंगभूपाल (१३वीं शताब्दी का मध्य भाग) रसार्णवसुधाकर

रसार्णवसुधाकर मूलत: नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है, जिसमें रंजकोल्लास, रसिकोल्लास तथा भावोल्लास नामक उल्लासों में रूपक के तीनों अंगों-नेता,

---

१. प्रतापरुद्रीये रत्नापणव्याख्या, पृ० १९६

२. RRP cannot lay any claim to originality...discussion of controversial points is scrupulously avoided. RRP P. 7-8

३. तस्मादसारे संसारे साररूपो रसो मत:।
यत्र प्रीति: सुविपुला वर्धते च दिने दिने॥
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्र रामादयोऽपि च।
पारिजाततरुच्छायामास्थिता: किन्नरस्त्रिय:॥
सुरवारांगना यत्र नृत्यन्ते भावभूषिता:।
विजृम्भमाणकिरणविस्फुरद्रत्नभूमय: ॥
इत्थं विचित्रा भावास्तु हर्षोत्कर्षप्रदायिन:।
निमज्जयन्ति मनुजान् निस्सीमसुखसागरे॥
(र० र० प्र० पृ० २)

४. अलंकारसर्वस्वम्, पृ० ३२८

रस एवं वस्तु का क्रमशः विशद विवचन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय उल्लास (रसिकोल्लास) में उन्होंने रसस्वरूप वर्णन के प्रसंग में साधारणीकरण के सिद्धान्त के प्रति भी किंचित् जागरूकता प्रदर्शित की है, किन्तु उनकी दृष्टि में सहृदय-संवेदन-सिद्ध रस की प्रमाण-सिद्धि का यह शास्त्रसिद्ध श्रम स्वयं में एकान्त रोचक व्यापार नहीं है।[1] शिंगभूपाल की रसविषयक कोई मौलिक परिकल्पना अथवा मान्यता भी नहीं है। उनके अनुसार अभिनेताओं के अभिनय कौशल से स्थायी अपने-अपने विभावों, व्यभिचारियों अनुभावों एवं सात्त्विकों से संयुक्त होकर सामाजिक के मन में स्वादुरूपता में परिणत हो जाता है।[2] रस का अन्तिम भोक्ता भावक ही है, किन्तु स्थायी अथवा रस की मूलभूत स्थिति उसमें नहीं है। नायक अथवा नट में भी रस की स्थिति ग्राह्य नहीं है। रस की नायक, नट तथा सहृदय-निष्ठता का प्रबल तर्कों से प्रत्याख्यान करते हुए शिंगभूपाल कहते हैं कि नायकनिष्ठ रस को अन्यानुभव होने के कारण प्रमाता ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि यदि नायक साक्षाद्दृष्ट है तो उसकी प्रणय-लीला सामाजिक में व्रीडा जुगुप्सा ही प्रेरित करेगी और यदि वह मात्र श्रुत अथवा अनुकृत है तो उसके अस्तित्व के प्रति प्रमाता की आस्था दृढ़ नहीं हो सकेगी। नट में भी रस उसके अभ्यास-नैपुण्य के रूप में ही प्रतीत होता है। अनुभाव अथवा व्यभिचारियों का यथार्थ अस्तित्व उसकी मनोभूमि में नहीं होता। सामाजिक में अनुभाव अथवा भावना विद्यमान रहती है, किन्तु वह अनुकार्य मालविकादि को प्रेयसी की समकक्षता में नहीं रख सकता।[3] प्रथम तो मालविका अविद्यमान है, दूसरे वह प्रमाता की आत्मचेतना से बाह्य विशेष व्यक्तित्व मात्र है।[4] प्रकारान्तर

---

१. सकलसहृदयहृदयसंवेदनसिद्धस्य रसस्य प्रमाणान्तरेण संसाधनपरिश्रमः श्रोतृजनचित्तक्षोभाय केवलं, नोपयोगायेति।
(र० सु० पृ० १०४)

२. नटाभिनययोगतः साक्षात्कारमिवानीतैः प्रापिताः स्वादुरूपताम्।
सामाजिकानां मनसि प्रयान्ति रसरूपताम्॥
(र० सु० पृ० १०३)

३. वही, पृ० १०३

४. ननु मालविकादिविभावविशषस्यानौचित्याद् भाव[illegible]न्निहितत्वाच्च सामाजिकानामपि न नटवदेवं रसाश्रयत्वं प्रसज्ज्यते
([illegible] सु० पृ० १०३)

से ये विप्रतिपत्तियाँ साधारणीकरण की आवश्यकता की ओर इंगित करती हैं। विविध सिद्धान्तों का आश्रय लेकर भी स्थायी-निष्ठता का कोई अमिश्रित या मिश्रित समाधान नहीं है। अत: भट्टनायक अथवा अभिनवगुप्त-प्रतिपादित साधारणीकरणपरक सिद्धान्तों की भूमि पर ही इसका समाधान अनुसंधेय है। इस संदर्भ में शिगभूपाल **'केचन समादधे'** के द्वारा प्राय: भट्टनायक का जो अभिमत प्रस्तुत करते हैं, उसकी शब्दावली उनकी एकान्त अपनी है।

शिग के अनुसार प्रमाता की चेतना से बाहर विभावों का अस्तित्व मूलत: असाधारण होता है, शब्दोपकरणों के द्वारा वे अन्तर्भावित होते हैं। काव्य में यह प्रक्रिया अभिधापरक भावना व्यापार से घटित होती है, जिसका मूलतत्त्व साधारणीकरण व्यापार है। भावक के अन्त:करण में अनुप्रविष्ट होकर विभाव अपने विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त एवं विपरिवर्तित हो जाते हैं। प्रमाता अनौचित्य की अनुभूति से मुक्त निर्विघ्न उन्हें अपना आलम्बन स्वीकार करके निस्तरंग विश्रान्ति-भाव से उनका भोग करता है।[1] शिग ने भट्टनायक के अभिमत को यथावत् ही प्रस्तुत किया है। विशेष उल्लेखनीय यह है कि उन्होंने भावना-व्यापार को अभिधा के पर्याय रूप में ग्रहण किया है। उनका अभिप्राय यह है कि शब्दोपकरणों से अन्वित हो कर लौकिक भाव जिस रूप में काव्य में अभिव्यंजित होते हैं, वे अभिधा के विशिष्ट व्यापार के अन्तर्गत ही आते हैं। आधुनिक शब्दावली में काव्य की अभिधा में अनिवार्यत: भावना अर्थात् रागात्मक संवेदना एवं कल्पना के अनुषंग संपृक्त रहते हैं। साधारणीकरण से शिग का आशय संभवत: सम्बन्धों की विपरिवर्तमानता से है, जिसमें निर्विशेषत्व की प्रच्छन्न स्वीकृति तो है, किन्तु बल विभाव और प्रमाता के अन्त: सम्बन्धों के कल्पनापरक एवं अन्तरालयुक्त होने पर है।

'अन्ये त्वन्यथा समाधानमाहु:' के अनन्तर शिग दूसरा अभिमत अभिनव

---

१. विभावादिभावानामनपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपादानादेवासादितसद्भावानामानुकूल्यापेक्षया निस्साधारणानामपि काव्ये नाट्ये चाभिधापर्यायेण साधारणीकरणात्मना भावनाव्यापारेण स्वसम्बन्धितया विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनत्वाद्यविरोधादनौचित्यादिविप्लवरहित: स्थायी निर्भरानन्दविश्रान्तिस्वभावेन भोगेन भावकैर्भुज्यते। (र० सु० पृ० १०३-१०४)

का प्रस्तुत करते हैं, जिसकी शब्दावली प्राय: काव्यप्रकाश की अनुवर्तिनी है। 'लोके प्रमदादिकारणादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटवात् सहृदयानां काव्ये नाट्ये च विभावादिपदव्यपदेश्यैरस्वसम्बन्धित्वेन च साधारण्यात् प्रतीतैरभिव्यक्तभूतो वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणो लोकोत्तरचमत्कारकारिपरमानन्दमिव कन्दलयन् रसरूपतामाप्नोति।'[1] द्रष्टव्य यह है कि यहाँ भी शिंग का बल अस्वसंबन्धित्वेन साधारण्यात् पर ही है। भट्टनायक की 'स्वसम्बन्धितया विभावितानां विपरिवर्तमानाम्' की अवधारणा से इसमें विशेष अन्तर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनायक की भुक्तिसंबंधी अवधारणा तथा अभिनव के व्यक्तिपक्ष के प्रति अनास्थाशील रह कर भी साधारणीकरण के उस पक्ष को वे अवश्य स्वीकार करते हैं, जिसमें पात्र अपने विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त हो कर प्रमाता की अन्तश्चेतना में अनुप्रवेश करते हैं। प्रमाता के स्तर पर साधारण्याभिमान, रागद्वेष से मुक्ति, सम्बन्धों के स्वीकार-परिहार जैसी विप्रतिपत्तियों में वे नहीं पड़े हैं।

भुक्ति तथा व्यक्ति दोनों पक्षों की, शिंग के अनुसार, सीमा यह है कि सामाजिक में रसाश्रयता स्वीकार कर लेने पर अभिव्यंजना के अन्य पक्ष धूमिल पड़ जाते हैं। शिंग के अभिमत में ये स्थायी सामाजिक के मन में मुद्रामुद्रितन्याय से विपरिवर्तित, वासित, अभिवर्द्धित होते रहते हैं। काव्यार्थ में परिणत तथा बहिर्मुख (बाह्यार्थावलम्बनात्मक) ये स्थायी भाव विकास, विस्तार, क्षोभ, विक्षेप-परक विभिन्न स्वरूप में आस्वादित होते हैं।

निष्कर्षतः साधारणीकरण के अभावात्मक प्रसंग को उठा कर शिंग ने जो विभिन्न समाधान प्रस्तुत किए है, वे एकान्त नूतन अथवा विशिष्ट तो नहीं हैं, फिर भी वे दो प्रश्नों की ओर ध्यान अवश्य आकृष्ट करते हैं। प्रथम यह कि रस की आत्मनिष्ठा पर अत्यधिक बल देने का अर्थ अभिनयनैपुण्य तथा काव्य के कला-पक्ष को अपेक्षाकृत गौण तथा विभावों के वैशिष्ट्य और उनके परिवेश के स्पन्दन को क्षीण करना है। दूसरा यह है कि साधारणीकरण में चित्तवृत्तियों की एकतानता के प्रति आग्रह अनुभूतियों के वैविध्य के प्रति न्याय नहीं कर पाता। अतः आकस्मिक नहीं कि शिंग की ऋजुरेखीय दृष्टि में साधारणीकरण का प्रश्न आप्रासंगिक प्रतीत हुआ है।

---

१. रसार्णवसुधाकर पृ० १०४

भानुदत्त (१४८० से १५७० ई०) रसतरंगिणी

भानुदत्त ने शृंगार-रस को ही परमप्रतिष्ठा देते हुए रसमंजरी का प्रणयन जहां नायिकाभेद प्रधान ग्रन्थ[1] के रूप में किया है, वहाँ रसतरंगिणी को रस-विवेचन के सैद्धान्तिक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण के प्रति विशेष आग्रह न होने के कारण साधारणीकरण जैसे तार्किक विषय को उन्होंने अपनी विवेचन सीमा से बहिष्कृत ही रखा है। वे सहृदय पाठक तक ही काव्य-विमल.रस की सम्प्रेषणीयता में आस्था रखते हुए अरसिकों के प्रवेश को काव्यक्षेत्र में निषिद्ध ठहराते हैं।[2] प्रकारान्तर से तन्मयीभवन तथा उसके अधिकारी सहृदय में बौद्धिकता की अपेक्षा रागात्मक अनाविलता को प्रश्रय देकर वे साधारणीकरण के मूल सिद्धान्त की ओर भी इंगित करते हैं। साथ ही तन्मयीभवन या मनोविश्रान्ति को रस के लक्षण के स्तर पर स्वीकार कर वे संविद्विश्रान्ति तथा वेद्यान्तर-शून्यता की संकल्पना में आस्था व्यक्त करते हैं। **'भावविभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनोविश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः।** अभिनव के अनुसार यही अर्जनादि संसर्गरूप विघ्न से मुक्त तटस्थ स्वगत प्रतीतिजन्य दुःख द्वेष आदि से असंस्पृष्ट अलौकिक चेतना है।[3] स्थायी भाव की परिभाषा देते हुए भानुदत्त कहते हैं कि भाव के आत्म स्वरूप को वास्तविक रूप में स्थायी भाव ही प्रकाशित करता है। किन्तु, अन्य अनुकूल एवं प्रतिकूल भाव उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करने में योग देते हैं।[4] यह चरम-समय-पर्यन्त स्थायी

---

१. तत्र रसेषु शृंगारस्यभ्यार्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूप्यते। रसमंजरी, पृ० ४-५

२. भारत्याः शास्त्रकान्तारश्रान्तायाः शैत्यकारिणी।
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी ॥
र० त०, पृ० २-३

गिरां देवि तरंगिण्यां वारय क्रूरवारणान्।
यद्भविष्यति लोकानामाविलो विमलो रसः ॥
र० त०, षष्ठस्तरंग : पृ० १०३

३. नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८५-८६

४. सजातीयविजातीयभावानाभिभाव्यः प्रथमः। पृ० ६

की संकल्पना एकान्त मौलिक नहीं है, किन्तु इसमें यह तथ्य अवश्य निहित है कि राम-सीता के बाह्य संदर्भ क्रमशः साधारणीकृत रति भाव में परिणत हो कर आत्मस्वरूप (कान्तात्व) का उन्मीलन करते हैं। यह उन्मीलन ऋजुरेखीय नहीं होता। उसमें विजातीय एवं विसंवादी उपादानों का योग रहता है, जिनसे उनका मौलिकस्वरूप कालातीत हो कर क्रमशः चरम क्षण तक उन्मीलित होता जाता है। **'चरमसमयपर्यन्तस्थायिभावत्वादस्य स्थायित्वव्यपदेशः'**।[1] इतर भाव के उपनायकत्व शब्द के प्रयोग में भी एक विधेयात्मक अन्तर्-ध्वनि है, अर्थात् विसंवादी भावोपकरणों के अन्तर्ग्रथन के बिना रसानुभूति चरम समय पर्यन्त स्थायी नहीं हो सकती। विभाव और अनुभाव की परिभाषाएँ भी यद्यपि भानुदत्त ने परम्परित रूप में ही दी हैं, किन्तु दोनों को एक-दूसरे की सापेक्षता में प्रस्तुत कर यह संकेत दिया है कि रस की अनुभूति आन्तरिक होती है; अतः उसकी अनुभूति ज्ञापक के बिना संभव नहीं है। ज्ञापक के रूप में अनुभावों की ही अपेक्षा की जाती है। विभाव तो रस को विशेष रूप से भावित मात्र करते हैं, किन्तु उनका आभ्यन्तरीकरण अनुभावों की अनुभूति से ही सम्भव है।[2] शंकुक एवं भट्टनायक के अभिमतों के समन्वय से उन्होंने विशेषाभिमुख विभावों के साधारणीकरण की ओर उन्मुख होने तथा उनका बोध कराने में अनुभावों की भूमिका का विवेक-सम्मत आख्यान प्रस्तुत किया है। अनुभावों के अभाव में साधारणीकरण असम्भव है। अनुभाव अनुभावकता के कारण हैं तथा रसनिष्पत्ति के प्रतिबन्धकों (फलायोग) का व्यवच्छेदन या निराकरण करते हैं।[3]

भानुदत्त यह स्वीकार नहीं करते कि सात्त्विक भावों में सकलरससाधारण्य या परगतदुःखभावनायामत्यन्तानुकूलत्वम् जैसी विशेषताएँ हैं। वे उन्हें शारीरभाव मानते हैं और इस स्तर पर सात्त्विक भाव और सत्त्वोद्रेक के मध्य स्वीकृत सम्बन्ध का निषेध कर अपनी लोकोन्मुखी वृत्ति का संकेत देते हैं। भानुदत्त की लोकोन्मुखी वृत्ति अलौकिक संयोगजन्य अलौकिक रस के साथ लौकिक संयोगजन्य लौकिक रस की भेद-स्वीकृति में भी व्यक्त हुई

---

१. प्रथमतरंग (पृ० ७)

२. रसतरंगिणी, पृ० २२

३. करणत्वेनाऽनुभावकता करणत्वं च फलायोगव्यवच्छेदसम्बन्धित्वम्। (रसतरंगिणी पृ० ३६)

है।[१] अलौकिक सन्निकर्ष का विवेचन इस अवधारणा पर आधृत है कि अननुभूत वस्तु का साक्षात् भी पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ज्ञान की अनुभूति कराता है। अलौकिक रस स्वप्नविषयक, मनोरथविषयक और औपनयिक तीन प्रकार का है। औपनयिक काव्य-नाटक के पद-पदार्थ के चमत्कारों के द्वारा आनन्दानुभूति प्रदान करता है।[२] लौकिक रस से उनका आशय, प्रत्यक्षानुभूति से नहीं है। अलौकिक रस के समानान्तर यह चेतन मन से गृहीत काव्य का संज्ञानात्मक या ऐन्द्रिय आनन्द है, जिसमें प्रमाता भाव-संस्कार की अपेक्षा रूप रस गंध पर आश्रित बहिर्ज्ञानेन्द्रियजन्य मांसल बिम्बों में आनन्द ग्रहण करता है। उससे इतर किसी आत्मिक या अनुचिन्तनात्मक अनुभूति की ओर वह उन्मुख नहीं होता। रिचर्ड्स का कथन है कि कुछ पाठक इतने संवेदनशील होते हैं कि पठित अक्षर भी उनकी कल्पना में अनुनादित होने लगते हैं।[3] तद्विपरीत कुछ अन्य प्रमाता भावप्रवण होते हैं। उनके काव्य-संस्कार अत्यन्त प्रबल होते हैं। वे काव्य का आस्वादन उपचेतन तथा संकल्पात्मक अनुभूति की सम्मोहनावस्था में करते हैं।[3] अननुभूत होते हुए भी सामूहिक अवचेतन में निहित आद्य प्ररूपों में रूपान्तरित होकर काव्य अथवा नाट्य-वस्तु आदिम संस्कारों को झंकृत करती है। इन आद्य प्ररूपों का हमने अन्यत्र विवेचन किया है। जुंग के अनुसार ये सामूहिक अवचेतन के प्रोद्भास हैं। ये एक नाटकीय प्रक्रिया की तरह, अप्रत्याशित रूप से स्वप्न-प्रतीकों की भूमिका में उद्घाटित होते हैं; तथा इनकी अनुभूति युग-युगान्त के आद्य पुरातन बिम्बों की छद्मलीला का आभास देती हुई सी घटित होती है।[४]

---

१. रसतरंगिणी, पृ० १०५

२. औपनयिकश्च काव्यपदपदार्थचमत्कारे नाट्ये च। (वही पृ० १०४)

३. Any line of verse or prose slowly read, will for most people, sound mutely in the imagination somewhat as it would if read aloud.

(I.A. Richards, Principles of Literary Criticism Indian Edition P. 91)

४. Usually the process runs a dramatic course, with many ups and downs. It expresses itself in, or is accompanied by, dream symbols that are related to the 'representations collectives, which, in the form of mytholgical motifs,

वस्तुतः औपनयिक एवं मनोरथिक दोनों ही काव्यानुभूति हैं तथा लौकिक एवं लोकोत्तर चेतना के मध्य ये प्रमाता की द्वैधी चेतना का साक्ष्य देती हैं, जिसमें रागात्मक सम्मोहन के मध्य संज्ञानात्मक अनुभव भी तीव्र हो जाता है। इस द्वैधी चेतना की परिणति माया रस की उस संकल्पना में अभिव्यक्ति पाती हैं, जो प्रेम और सम्मोहन, विकर्षण और आकर्षण की द्विमुखी प्रक्रिया के अन्दर से विकसित हुई है। प्रबुद्ध मिथ्याज्ञानवासना ही माया रस है,[1] जिसमें रति-हास, शोक-क्रोध, उत्साह-भय, जुगुप्सा विद्युत की भाँति उत्पन्न और विलीन होते हैं।[2] यह नवीन रस का नहीं रस-दशा का ही विवेचन है। संवादी-विसंवादी अनुभूतियों की इस द्वैधी चेतना में ही केन्द्रीय संवेदना विकर्षण-आकर्षण के सूत्रों से बंधी हुई एक नवीन चेतना में रूपान्तरित होती है। शंकुक इसी सूत्र के माध्यम से रस की कल्पितानुसंधान की भूमि पर पहुँचे थे।[3]

प्रभाकर (१६वीं शती) रसप्रदीप (रचनाकाल-१५८३ ई०)

प्रभाकर ने रसानुभूति को विविध निषेधों के मध्य द्वन्द्वात्मक स्तर पर व्याख्यायित किया है। रस विभावादि की लौकिक सीमा का अतिक्रमण करता हुआ भी विभावादि से मुक्त नहीं है। आत्मसाक्षात्कार की भूमिका का स्पर्श करता हुआ भी वह स्वप्न-दर्शन के समान मिथ्या प्रतीति है। एकान्त बाह्य विषयों की अनुभूतियों से मुक्त होने पर भी अपनी उपादान सामग्री बाह्य लौकिक जगत् से भी ग्रहण करता है। प्रमाता अथवा कवि की मानसिक साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होने पर भी लौकिक जगत् से ही उसके अन्तःसूत्र

---

have portrayed psychic processes of transformation since the earliest times.

The Archetypes of Litereture, Twentieth Century Criticism, P. 232)

१. प्रबुद्धमिथ्याज्ञानवासना मायारसः।

(र० त०, पृ० १४६)

२. विद्युत इव रतिहासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। (र० त०, पृ० १४६)

३. नाट्यशास्त्रम्, अभिनवभारती सहित (बड़ौदा संस्करण), पृ० २७३

उद्भिन्न होते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि रसप्रदीपकार की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा मानस-साक्षात्कार की भूमिका पर निरूपित हुई है,[2] किन्तु उसमें कवि अथवा प्रमाता के बाह्य परिवेश की उपेक्षा नहीं है। रस की अतीन्द्रिय भूमिका भी अन्ततः ऐन्द्रिय जगत् के उपादानों से ही संघटित होती है। उसकी अन्तिम परिणति अवश्य विगलितवेद्यान्तर मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति ही है।

प्रभाकर ने भट्टनायक, अभिनव तथा धनंजय की अवधारणाओं का विश्लेषण करने के उपरान्त मूलतः एक समन्वित दृष्टि का परिचय दिया है, जिसमें अभिनव की सम्बन्ध विशेष के स्वीकार परिहार, (प्रमाता के वस्तुगत तथा विषयीनिष्ठ संसर्गों की मुक्ति)[3] भट्टनायक की सीतादि के कामनीत्व मात्र में पर्यवसान की भूमिका[4] तथा धनंजय की काल्पनिक प्रतीतिजन्य तादात्म्य की अवधारणाओं[5] का अन्तर्भाव है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि प्रभाकर नैतिक तथा अनैतिक के द्वन्द्वों की अपेक्षा सौष्ठववादी भूमिका पर ही साधारणीकरण की अवधारणा में आस्था व्यक्त करते हैं। सीतादि का स्त्रीत्वादि के रूप में पर्यवसान जहाँ उपदेशात्मक अनुकरण अथवा नैतिक मूल्यों के पुनरनुसंधान के स्तर पर विश्लेषित हुआ है, उन्हें ग्राह्य नहीं है। विभावादि के साधारणीकरण में नैतिक दृष्टि अवरोध नहीं डालती। **तस्माद्विभावत्वादिप्रकारेण भानमेव साधारण्येन मानम्। स्त्रीत्वादिमानं पुनरास्तां न वेत्यन्यदेतदिति वयम्।**[6] यह बात अवश्य है कि साधारणीकरण की आवश्यकता के मूल में पूज्य बुद्धि के

१-२. विभावाद्यनधीनमपि तदधीनमिव विभावादिसमयसमनियतमात्मानमादर्शयन् स्वप्नविषयक मनोगम्योऽपि बाह्यविषयवदितरेन्द्रियविषयमिव स्वात्मानं परिस्फोरयन् हृदयमिव प्रविशन् परिमितोऽप्यपरिमितः।
(रस-प्रदीप (प्रभाकरभट्ट, प्रयाग-१९२५) पृ० २९)

३. सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारानवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तो… (वही, पृ०, वही)

४. सीतात्वादिमपहाय स्त्रीत्वादिमात्रेणेव स्फुरणात्। (वही, पृ० ३०)

५. दृश्यते हि मृण्मयान् द्विरदानपश्यतो बिम्भस्य मृण्मयादित्वविशेषमपहाय द्विरदसामान्यप्रतिभासः। (वही, पृ० ३०)

६. रसप्रदीप, पृ० ३१

लोप कीं समस्या भी है। पूज्या होने के कारण, प्रमाता, सीता के प्रति राम की रति के साथ सम्बन्ध स्थापित कर उसे विभावरूप में स्वीकार नहीं कर सकेगा।[1] आशय यह है कि साधारणीकरण के प्रयोजन के मूल में नैतिक, अनैतिक के द्वन्द्व को प्रभाकर स्वीकार करते हैं, और अन्तिम रसात्मक परिणति को मूलतः द्वन्द्वमयी भावनोपनीत चेतना मानते हैं।[2]

भट्टनायक के विवेचन में भी प्रभाकर ने मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। उन्होंने भावना, साधारणीकरण, भावकत्व एवं वासना संस्कार को एक ही धरातल पर प्रस्तुत किया है। भावना की संस्कार निष्ठा के कारण रामादि अनुकार्य तथा सामाजिक की रति का अभेदाध्यवसान हो जाता है।[3] भावना को संस्कार के स्तर पर ग्रहण करना भट्टनायक की व्यापारवादी दृष्टि के विपरीत अवश्य पड़ता है किन्तु संस्कार को भावना के स्तर पर स्वीकार कर लेने से अभिनव के साथ भट्टनायक का सामंजस्य स्थापित हो जाता है। अभिनव के अनुसार प्रमाता में काव्यार्थ को साधारणीकृत रूप में ग्रहण करने के लिए एक विशेष प्रकार का संस्कार अभीष्ट है।

भट्टनायक के मन्तव्य को प्रभाकर अपने वैशिष्ट्य से संवलित कर इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—अभिधा सम्पूर्ण काव्यार्थ को प्रस्तुत करती हैं, किन्तु उसे सामाजिक की रत्यादि का विषय भावना ही बनाती है। भावना विभावादि को साधारणीकृत करने वाली कोई विशिष्ट वासना या संस्कार है। भावकत्व गुणालंकार परिग्रहात्मक है, फिर भी संस्कार (भावना) तथा भावकत्व (गुणालंकारयुक्तता) में अन्तःसंबन्ध है। आशय यह है कि संस्कारविशिष्ट प्रमाता काव्य के अन्तश्चमत्कार को अन्तर्भावित करने में समर्थ हो सकता है।[4] भावना प्रभाकर की दृष्टि में सहृदय की आत्मास्वाद-

---

१. सीतादीनां सामाजिकरतावकारणत्वात् स्वकान्तात्वसंवेदनाभावात्। आराध्यत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाच्च। (वही, पृ० २६)

२. भावनोपनीतो रामादिरत्यादिः सामाजिकचिदानन्दाख्यः साक्षात्कारविषयो रसः। (वही, पृ० वही)

३. भावना च विभावादिसाधाकरणीकरणात्मा भावकत्वाख्यः कश्चन वासनापरनामा संस्कारः तेन च रामादिरत्यादिभिः सह सामाजिकरत्यादीनामभेदाध्यवसानम्। (वही, पृ०)

४. भावकत्वं च समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकम्।...दृश्यते हि तदेव काव्ये मुहुर्मुहुश्चर्वयन् सहृदयो लोकः। (रसप्रदीप, पृ० २६)

मयी काव्यानुभूति का पर्याय है। यह एक प्रकार की धारावाही अन्तश्चेतना है। अभिनव के मत को प्रभाकर ने उसके मूल रूप में ही प्रस्तुत किया है किन्तु भट्टनायक के मत को अंशतः उसकी व्याख्या की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि रसानुभूति को प्रभाकर अनुकार्यगत न मानकर सामाजिकनिष्ठ ही मानते हैं, क्योंकि रामादि की रति प्रमाता के लिए अननुभूत होने के कारण पुनर्भावित नहीं हो सकती। परम्परित दृष्टि से रसप्रदीपकार अनुमिति से रसाभूति का निषेध करते हैं। यद्यपि इस संदर्भ में पूर्वपक्ष के रूप में उन्होंने शंकुक के मत को साधारणीकरण की भूमिका के स्तर पर ही व्याख्यायित किया है[1], किन्तु धारावाहिकता अर्थात् प्रेक्षक की तन्मयावस्था को, प्रभाकर इस कारण असंगत ठहराते हैं कि वह जिस प्रदर्शित रति का पुनरनुसंधान करता है उसे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान के रूप में नहीं, रस की वास्तविक अनुभूति के रूप में ग्रहण करता है। रस मूलतः मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति है, जो भावना अथवा संस्कार-निष्ठ भूमिका पर ही अंकुरित होती है। संस्कार अथवा वासना की मूलभूत अवस्थिति प्रत्येक सहृदय में सम्भाव्य है, अतः अभिनेता में भी काव्यार्थ के भावन का एकान्त निषेध नहीं किया जा सकता। निष्कर्षतः साधारणीकरण के मूल में भावना तथा संस्कारविशेष को स्वीकृति प्रदान कर प्रभाकर भट्टनायक और अभिनवगुप्त को एक ही धरातल पर उपस्थित कर देते हैं।

भूदेव शुक्ल (१६६० ई०) रसविलास

भूदेव का रसविलास मूलतः प्राचीन आलंकारिकों की ही उद्धरणी प्रस्तुत करता है। रसगंगाधर का वह सर्वाधिक उपजीवी प्रतीत होता है। विचित्र तथ्य यह है कि उन्होंने अन्य आलंकारिकों का नामग्रह पूर्वक स्मरण किया है, किन्तु पंडितराज का नामोल्लेख नहीं किया है। वस्तुस्थिति यही प्रतीत होती है कि भूदेव ने ही पंडितराज जगन्नाथ का अनुहरण किया है। उनकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है—'**इत्यावेदितमस्माभिर्नवं नात्र प्रकल्पितम्**।'[2]

१- अनुमितस्यापि तन्मयीभावापादकधीरूपवासनावशात्पुनः पुनरनुसन्धाने दोषाभावात्। इयमेव ह्यस्मिन् मते चर्वणा। (वही, पृ० २४)

२. रसविलास पृ० ६६

रस-स्वरूप एवं साधारणीकरणसंबंधी विचार उन्होंने अविकल रूप से रसगंगाधर से ग्रहण किए हैं। इनसे केवल यह ज्ञात होता है कि इस प्रक्रिया में उनकी आस्था हृदय-संवाद, भावना-विशेष की महिमा से दुष्यन्तरमणीविशेष अर्थ के विगलन, आनन्दांश के भंग तथा परिमित प्रमातृभाव के तिरोधान जैसे प्रत्ययों पर ही है। पण्डितराज के समान भूदेव की भी यही मान्यता है कि व्यंजना-व्यापार के आविर्भाव से प्रमाता के आनन्दांश को आवृत करने वाला अज्ञान तिरोहित हो जाता है तथा भावना-विशेष रूप साधारणीकरण व्यापार की महिमा से उसमें स्थित परिमितप्रमातृता समाप्त हो जाती है तथा प्रमाता अपने अन्तःकरण में स्थित स्वप्रकाशचैतन्य रूप आनन्द को हृदय में वासना रूप से अवस्थित रत्यादि से संवलित कर आस्वाद करता है।

'इत्थं च समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः अश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दांशावरणज्ञानेन अत एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।'[1]

स्पष्टतः भूदेव का मन्तव्य ही नहीं उक्त अंश भी रसगंगाधर से उद्धृत है। साधारणीकरण के संबंध में भूदेव की देन अनुभाव एवं व्यभिचारी की सापेक्ष संयोजना के विवेचन में है। साधारणीकरण के मूल में असाधारणता की प्राक्कल्पना आवश्यक है। विभावादि के असाधारण होने के कारण व्यभिचारी भाव अन्य भावों का आक्षेप करके तथा उनसे संयुक्त हो कर ही रस के व्यंजक होते हैं। अमरुक के **'दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं'** इत्यादि श्लोक पर उनकी टिप्पणी है कि **'एषां विभावादीनामसाधारण्ये नान्यद्वयाक्षेपकत्वेनात्रापि मिलितानामेव व्यंजकत्वात्। अथैते यद्यसाधारणास्तर्हि किमन्यद्वयाक्षेपेण। एकैकव्यभिचारे हि त्रयापेक्षा। यदि साधारण्यमेवैषां कथं तर्हि स्थायिविषयोग्यविभावाद्याक्षेपकत्वमिति। उच्यते। एकैकस्य व्यभिचारात् मिलितानां व्यञ्जकत्वे स्थितेऽसाधारणेनापि इतरद्**

---

१. वही, पृ० ३

द्वयमाक्षिप्यते । किञ्च रसस्य विभावादिसमूहालम्बनरूपत्वादेकैकस्माद-साधारणादपि व्यक्त्यभावात् मिलितानामेव व्यंजकत्वम् अतोऽसाधारण्येऽपि इतरद् द्वयमाक्षिप्यते ।[1]

अनुभाव एवं व्यभिचारी एक से अधिक स्थायिभावों के साथ संयुक्त हो सकते हैं तथा एक ही विभाव रौद्र अद्भुत वीर रसों में संयुक्त हो सकता है। अतः किसी विशिष्ट रस की निष्पत्ति के लिए इनकी असाधारण योजना आवश्यक है। रस समूहालम्बनात्मक है, अतः किसी एक के असाधारण होने से रस की निष्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक अन्य दो के आक्षेप से उसकी असाधारणता को पुष्ट न किया जाए। अभिनव ने रसानुभूति के इस विलक्षण व्यापार की ओर संकेत किया है।[2] भूदेव की मौलिकता यही है कि उसने असाधारणता की कुक्षि से उभरने वाले साधारण्य की ओर मनोवैज्ञानिक संकेत किया है।

विश्वेश्वर पाण्डेय (१८वीं शती का आरम्भ) रसचन्द्रिका

भट्टनायक, अभिनव गुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ की अवधारणाओं के समन्वय से विश्वेश्वर ने अपनी साधारणीकरणसम्बन्धी अवधारणा निर्मित की है। भट्टनायक की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए विश्वेश्वर कहते हैं कि अभिधा शक्ति सीता को सीतात्व के रूप में उपस्थित करने में ही समर्थ है जो रसानुभूति के विपरीत है। भावकत्व व्यापार से ही सीतादि की कान्तात्व रूप में परिणति सम्भव है।[3] आशय यह है कि उनकी दृष्टि में भावकत्व, आराध्यत्व ज्ञान का प्रतिबन्धक तथा भोगकर्तृत्वव्यापार का प्रेरक है। स्थायी भावकत्व-व्यापार से साधारणीकृत होते हैं तथा इस प्रक्रिया में सुख-दुःख-मोह आदि क्रमशः प्रकाशित होते हैं किन्तु सत्त्वोद्रेक शेष गणों को अभिभूत

---

१. रसविलास पृष्ठ ८

२. ये पुनरमी ग्लानिशंकाप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्येऽपि न भवन्त्येव। तथा हि—रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति।
(नाट्यशास्त्र पृ० २८३)

३. रसचन्द्रिका (चौखम्बा-१९२६) पृ० ४५

कर रसानुभूति को सुखमात्र में पर्यवसित कर देता है। विश्वेश्वर भट्टनायक के सिद्धान्त को सांख्यसिद्धान्त के अनुकूल ही व्याख्यायित करते हैं[1]।

लौकिक अनुभूति विशेष रूप से ही ग्राह्य होती है। इस अनुभूति का आधार मूलत: अनुमान होता है, अतः यह चमत्कारपूर्ण नहीं होती। काव्य में वाक्यार्थ बोध के अनन्तर चमत्कार का उद्रेक होता है, अत: काव्यानुभूति अलौकिक तथा आनन्दात्मक होती है। कहना न होगा कि विश्वेश्वर काव्यानुभूति को काव्य-भाषा की सर्जनशीलता के आधार पर लौकिक अनुभूति से भिन्न ठहराते हैं। काव्य-भाषा के प्रतिमान के अतिरिक्त निर्विशेषीकरण की अवधारणा का आधार ले कर वे अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—**'काव्यादौ वाक्यार्थबोधानन्तरं चमत्कारविशेष इत्यनुभवसिद्धत्वात्। एतेन शकुन्तलादीनां सामाजिकैरसम्बन्धात् कथं तेषां रसोद्बोध इति निरस्तम्। काव्यादौ तेषां साधारणीकरणमिति स्वीकारात्।'**[2] इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि जब रसात्मक बोध की शाब्दबोधविषयता का निषेध किया जाता है तो वह स्पष्टतः रसबोध की स्वशब्दवाच्यता का निषेध है, अन्यथा रस भी वाक्यार्थ के रूप में ही विभावादि के द्वारा संवेद्य होता है। पंडितराज ने भी रसादिबोध रूप आनन्दात्मिका अनुभूति को शब्दव्यापारजन्य न मानने में कोई हानि नहीं देखी **'तेन रसास्वादस्य काव्य-व्यापारजन्यत्वेऽपि न क्षतिः'**[3]। रसास्वाद की व्याख्या विश्वेश्वर, पंडितराज जगन्नाथ की वेदान्तसम्मत अवधारणा के आधार पर भी करते हैं। रस साक्षात् आत्मचैतन्य का स्व-प्रकाशन ही है। चैतन्य के अंश को ले कर ही रस के नित्य स्व-प्रकाशन अलौकिकादि विशेषणों की सार्थकता है, अत: आनन्दांश के आवरण भंग से ही रसानुभूति संभव है **'रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमावरणभंगादानन्दरूपतया प्रकाशमानं रसपदार्थः'**।

विश्वेश्वर की अन्तिम आस्था साधारणीकरण की स्वीकृति में ही है। पंडितराज की भाँति वे भावना-दोष में साधारणीकरण की संभावना नहीं देखते। उनकी दृष्टि में भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त की समन्वित दृष्टि ही

---

१. उद्रेकश्च स्वेतरद्वयाभिभव इति साङ्ख्यसिद्धान्तात् (वही, पृ० ४६)

२. वही, पृ० ४६

३. रसगंगाधर (सं० मधुसूदन शास्त्री) हिन्दू विश्वविद्यालय सं० २०२० पृ० १३९-४०

स्वगत परगत आदि अनास्वाद्य प्रतीतियों तथा आराध्यत्व आदि ज्ञानों का निषेध करने में समर्थ है। भट्टनायक के मत की उपस्थापना में वे भावकत्व नामक शब्दगत द्वितीय व्यापार से सीता आदि की सामान्य कान्ता रूप में उपस्थिति स्वीकार कर उन की अवधारणा को किंचित् भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी साधारणीकरण की स्थापना को भी विश्वेश्वर ने किंचित् वैशिष्ट्य के साथ प्रस्तुत किया है **'एवं साधारणीकरणेन भावकत्व-निवृत्तौ तृतीयस्य भोगकर्तृत्वव्यापारस्य प्रभावात् रजस्तमसोरभिभवे सत्त्वोद्रेके च प्रकाशमाना आनन्दमयी या संवित् तत्र विगलितवेद्यान्तरत्वेन स्थितिरूपा या विश्रान्तिस्तत्स्वरूपेण साक्षात्कारेण विषयीक्रियमाणो रत्यादिस्थायिभावो रसः।'**[१] उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस-चन्द्रिका-प्रणेता विश्वेश्वर भट्टनायक की भावना या भावकत्व को तथा अभिनवगुप्त की व्यंग्य-व्यंजक-भावरूप सम्बन्धपरता को परस्पर विरुद्ध न मान कर एक दूसरे के पूरक रूप में ही उपस्थित करते हैं। दोनों ही अवधारणाएँ परिहृतविशेषता तथा प्रमातृ-विशेषनिष्ठता की परिमितता के निषेध तथा स्वगत परगत प्रतीतियों के दोषपरिहार की भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। पण्डितराज की अवधारणा ने इन्हें समन्वित करने में अतिरिक्त योग दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं विश्वेश्वर की दृष्टि वस्तुनिष्ठ न होकर विषयीनिष्ठ तथा वेदान्त-दर्शन प्रधान है।

विद्याराम (१८ वीं शती का प्रारम्भ) रसदीर्घिका—रचनाकाल-१७०६ विक्रम

विद्याराम ने साधारणीकरण का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु सहृदय तथा कवि के हृदय-संवाद की अनुभवपरक भूमिका की ओर वे अवश्य इंगित करते हैं। कवि अपने अनुभूयमान भावों एवं विचारों को सहृदय तक तभी सम्प्रेषणीय बना सकता है, जबकि प्रामाणिक अनुभूति के स्तर पर उसने स्वयं उनका अन्तर्भावन किया हो। वस्तुतः कवि के आत्मानुभव की ओर इंगित करने वाली विद्याराम की दृष्टि आधुनिक काव्यचिन्तन का पूर्वाभास देती है : **'रस्यतेऽनुभवं स्वस्यानीयते यः स वा रसः'**[२]। तालस्ताय के अनुसार भी

---

१. रसचन्द्रिका पृ० ४५-४६

२. रसदीर्घिका, (जोधपुर राजस्थान-१९५९, पृ० २)

सम्प्रेषित भाव का वैशिष्ट्य कलाकार की भावानुभूति की प्रमाणिकता में ही निहित है। कवि ने जिन अनुभूतियों को निजी जीवन में अनुभव किया है, उन्हीं को यथार्थ स्तर पर वह दूसरों तक संक्रमित करता है तथा प्रमाता भी समानुभूति के स्तर पर तत्परता तथा आवेग-प्रवणता के साथ सम्प्रेणित भाव का अनुभव करता है।[1] विद्याराम ने रस की मौलिक संकल्पना में सम्पूर्ण विश्व को विष्णु की भाँति अभिव्याप्त तथा रसमय करने की संभावना व्यक्त की है।[2] भावों का वैशिष्ट्य इसमें है कि वे समग्रतः चित्त को आप्लावित कर देते हैं[3] तथा सहृदय का हृदय किसी विलक्षण अनुभूति से उद्वेलित हो कर रागोद्रेक में तन्मय होता है। सहृदय का तन्मयीभाव भावोद्रेक की इसी घनीभूतता की अनिवार्य परिणति है।

जगन्नाथ मिश्र (१८ वीं शती का पूर्वार्द्ध) रसकल्पद्रुम (रचनाकाल-१७३५)

रसकल्पद्रुमकार की आस्था रस की सुखात्मक अनुभूति में ही है। दुःख की वेद्यान्तर अनुभूति से भिन्न सुखसामान्य में विभावादि की परिणति रस है।[4] इस सूत्र से लेखक भट्टनायक के मत को उपेक्षणीय मानता हुआ अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की ओर अग्रसर होता है। रस की अभिव्यक्ति जैसी अनुभूति प्रमाता से अभिन्न अनुभूति है जो अखण्ड, चिदानन्दमयी

---

१. पूर्वदृष्टो यः कोऽपि वृत्तान्तः अग्रे गत्वा स्वयमनुभवगोचरीक्रियते तर्हि सोऽपि किं रसव्यपदेशो भवति स्थूलस्थूलोऽपि साधारणतया योऽर्थो ऽवगम्येत सोऽपि काव्येषु रसबोधसीमनि सामाजिकम् प्रापयेदिति रस-दीर्घिकानिर्मातुः तात्पर्यम्।

(भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, वही, पृ० ४)

२. रसो वै स इति श्रुत्या रसस्य विष्णुरूपता।
अतो विष्णुमयं विश्वं यथा रसमयं तथा॥

(वही, १/८, पृ० २)

३. भावेस्तैस्तर्हि यच्चित्तं पूर्यमाणः समन्ततः।
उद्रिक्तः कोऽपि निर्यायात् भावः सान्द्रो रसः स्मृतः॥

(वही, १/९, पृ० २)

४. रसकल्पद्रुम (उड़ीसा साहित्य अकादमी-१९६५), पृ० ३८।

अतिरिक्त संसर्गशून्य ब्रह्मास्वाद-सहोदर जैसी अनुभूति है।[1] यह अनुभूति एकान्त, आध्यात्मिक अनुभूति भी नहीं है, क्योंकि विभावादि की सामग्री का सम्मेलन[2] स्थायिभाव के रसरूप में परिणत करने के लिए आवश्यक है। समानान्तर तथ्य यह है कि काव्यानुभूति प्रमाता की चेतना में तभी संक्रमित हो सकती है, जब उसे स्थितियों की सुनियोजित शृंखला के माध्यम से मूर्त किया जाए। काव्यानुभूति की सफलता इसी में है कि स्थायिभावों और उनके मूर्त विधान (विभावन व्यापार) में पूर्ण सामंजस्य और एकरूपता हो। इलियट ने आग्रहपूर्वक यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि कवि को अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए मूर्त्त संदर्भों का प्रसंगोचित आधार लेना चाहिए। इस संदर्भ में लेखक ने वेदान्त के 'तत्त्वमसि' महावाक्य का आधार लेकर सामाजिक की आस्वाद की चेतना की व्याख्या में योग दिया है। जीव तथा परमात्मा की एकता कालिक तथा स्थानिक अंशों के परित्याग पर ही निर्भर है। इसी प्रकार सामाजिक की रसानुभूति भी तभी अनवद्य रूप में पूर्ण हो सकती है, जब एतद्देशीय एवं एतत्कालिक अंशों (प्रतिबन्धों) का परित्याग कर दिया जाए। इन प्रतिबन्धों के तिरोहित हो जाने से सामाजिक नायक रूप में विवर्तित हो जाता है।[3] सहृदय तथा काव्य-निबद्ध आश्रय के तादात्म्य की वेदान्तसम्मत दार्शनिक भूमिका यही है। योगी जिस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास के द्वारा स्वप्रकाशानन्द रूप ब्रह्म का अभेद भाव से साक्षात् करते हैं,[4] उसी प्रकार सामाजिक भी काव्यगत विभावों एवं पात्रों से तादात्म्य करता है।

गंगाराम 'जडी' (१८ वीं शती का उतरार्द्ध) रस-मीमांसा (१८०८ वि० सं०)

गंगाराम 'जडी' के चिंतन पर अभिनव के अतिरिक्त विश्वनाथ तथा पण्तिराज जगन्नाथ का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। साधारणीकरण की

१. वही, पृ० -वही-

२. वही, पृ० ३७

३. रत्यादिरूपान्तःकरणवृत्त्युपहितचैतन्यस्थसमग्रविषयगृहीतत्वांशपरित्यागेन सामाजिकः एवास्वाद्यकाव्याद्याप्रतिपाद्यनवद्यनायकरूपेण विवर्तते।
(वही, पृ० ३८)

४. (वही, पृ० वही)

प्रक्रिया के अन्तर्गत वे विभावादि तथा स्थायी भावों के साधारणीकरण, संबंधों के स्वीकार परिहार मूलक अन्त:संबंध, पात्र तथा प्रमाता के वैशिष्ट्यों के तिरोधान के संदर्भों के अतिरिक्त सर्वसाक्षिक दोष-महात्म्य तथा आत्म-चैतन्य की आवरणमुक्ति जैसी अवधारणाओं को संयुक्त करते हैं। उनके चिन्तन के संभावित अन्तः सूत्र इस प्रकार हैं :-

क. विभावादीनां स्थायिनां वा साधारणीकरणहेतुः ।

ख. सम्बन्धि-विशेषावच्छिन्नत्वेनागृह्यमाणत्वम् ।

ग. व्यापारः सर्वसाक्षिकं दोषमाहात्म्यमेव वा ।

घ. तस्मात्तु स्वतः प्रकाशज्ञानावरणमपसरति द्राक् ।

च. साधारणीकरणं नामागम्यात्वादि-प्रकारज्ञानाविषयकान्तात्वादिनाऽवगम्यमानत्वम् ।[1]

उक्त सूत्रों में विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कवि चिरकाल से समष्टि-चेतन में स्थित स्थायिभावों का ही काव्य में वर्णित अनुभावों के द्वारा पुनः पुनः अनुसंधान करता है।[2] फलतः स्थायी से संयुक्त होकर विभाव-अनुभाव-व्याभिचारी सहृदय के स्तर पर साधारणीकृत होते हैं। अनुसंधान का मूल उत्स यद्यपि लोल्लट के चिंतन में निहित है, किन्तु उसमें व्यापक चेतना की प्रतिष्ठा पंडितराज ने ही की है। **'कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसंधानात्मा ।'**[3] वस्तुतः काव्यतत्त्व अनुभूति मात्र नहीं हैं। कवि और प्रमाता के स्तर पर अनुभूति का पुनः अनुसंधान है। विश्व के प्रति रागात्मक संचेतना कवि की मनोभूमि पर जिस रूप विधान में ढलती है, वह समष्टि सत्य का ही पुनरसंधान है। अनुभूति का पुनः अनुसंधान या अन्तर्भावन कल्पना की क्रिया है, जो एक स्तर पर प्रमाता की वासना या चित्तवृत्ति में संश्लिष्ट संस्कार-खण्डों एवं स्मृति-चित्रों का काव्योपकरणों के माध्यम से प्रत्याह्वान कर उसकी तात्कालिक अनुक्रिया को देश कालातीत बनाती है तो दूसरे स्तर पर काव्यानुभूति उसमें निहित वैयक्तिकता का परिहार कर जैसे सामष्टिक चेतना के धरातल पर स्वयं को पुनः रूपायित करती है।

---

१. रस-मीमांसा, पृ० ३-४

२. वही, पृ० २

३. रसगंगाधर (संपादक श्री बदरीनाथ झा), पृ० ११

स्पष्टतः गंगाराम 'जडी' अनुभूति की पुनः पुनः चर्वणा को ही रस मानते हैं, जिसमें विभावादि और स्थायी-भाव साधारणीकृत होकर उपस्थित होते है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के विवेचन में वे पंडितराज की शब्दावली का आधार ग्रहण करते हैं। साधारणीकरण रस-विरोधी अगम्यात्व ज्ञान का प्रतिबंधक है, जिसमें सीतादि का वैशिष्ट्य तिरोहित होकर पुनः कान्तात्व आदि धर्मों से युक्त होकर पुनरुद्भावित होता है। इस प्रक्रिया से सम्बन्ध-विशेष की अवच्छिन्नता तिरोहित हो जाती है तथा काव्यानुभव के अनुभूति मात्र में पर्यवसित हो जाने से आत्म-चेतना का आवरण हट जाता है। इस अर्थ में साधारणीकरण अलौकिक व्यापार ही है। जडी के अनुसार यह व्यापार सर्वसाक्षिक अथवा दोष-माहात्म्य रूप हैं। अपनी सहृदयता से उल्लसित भावनाविशेष दोष की महिमा से सामाजिक स्वयं को कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित कर लेता है। शुक्ति में जिस प्रकार रजत का रूप अज्ञानवश उत्पन्न हो जाता है तथा इन्द्रियप्रमाण के बिना संवेद्य (साक्षि-भास्य) होता है, उसी प्रकार स्वयं को दुष्यन्त कल्पित करने के कारण प्रमाता में शकुन्तला के प्रति साक्षि-भास्य से रति उत्पन्न हो जाती है।[1] इस व्यापार का दूसरा स्तर भी है जिसमें आत्मचैतन्य का स्वतःप्रकाश ज्ञान उन्मीलित होता है तथा आनन्दांश के आवरण के भंग हो जाने से व्यंजना का प्रादुर्भाव एवं रसानुभूति का वृत्त पूर्ण होता है।

इस परिप्रेक्ष्य में स्पष्टः है कि जडी ने प्राचीन सिद्धान्तों को यथासंभव समन्वित किया है। अनुसंधान में यदि लोल्लट, शंकुक एवं पंडितराज की अन्तर्ध्वनि है तो 'व्यापार' में भट्टनायक की। संबंधों के परिहार की अवधारणा में अभिनव तथा विश्वनाथ की स्पष्ट प्रेरणा है। इस विवेचन की मूल चेतना अद्वैत-चिन्तन पर आधृत पंडितराज के विवेचन की ऋणी है।

शिवराम त्रिपाठी- रसरत्नहारः

शिवराम त्रिपाठी की रस-अवधारणा की विशेषता यह है कि उन्होंने बड़ी सजगता से रस के स्वरूप विवेचन में सहृदय की अनुभूति को स्पष्ट स्वीकृति प्रदान की है। सहृदय के अन्तःकरण में रत्यादि भाव अनुचिन्तन के माध्यम

---

१. रसगंगाधर (सं० उपरि) पृ० ८७ पर आधृत।

२. भूम्ना कान्ताद्यालम्बनोपलक्षितः सन् प्रकाशते चिद्विषयी भवति। (रा० मी० पृ० ७)

से जब पुनः पुनः भावना का विषय बनाये जाते हैं, तो उनमें स्वतः आस्वाद-चेतना के रूप में उद्रिक्त होने की क्षमता आविर्भूत हो जाती है। इस संदर्भ में स्थायिभाव की रसानुभूति में परिणति के तीन अनुबन्ध हैं। स्थायिभाव की स्थिति, उसका पुनः पुनः उद्बोधन तथा आस्वाद चेतना में उसकी परिणति **श्रोतृ-प्रेक्षकाणामन्तःविपरिवर्तमानो रत्यादि वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरतां नीयमानो रसः।'**[1] विपरिवर्तमानः से स्पष्ट है कि रसानुभूति अनुभूति की निरावृत अभिव्यक्ति नहीं है। वह अनुभूति के पुनः पुनः भावन का परिणाम है। आस्वाद के धरातल पर अनुभूति का अन्तर्भावन साधारणीकरण की सीमा में आता है। इस संदर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि काव्य तथा नाट्य-रस के समीकरण के लिए लेखक ने 'श्रोतृ प्रेक्षक' समीकरण का प्रयोग किया है। रुद्रभट्ट ने भी श्रृङ्गार-तिलक में भरत आदि आचार्यों की नाट्य के प्रति रसस्थिति की आग्रहशीलता देख कर काव्य में रसस्थिति का समानान्तर विवेचन प्रस्तुत करने का आग्रह व्यक्त किया है। वस्तुतः साधारणीकरण की भूमिका में नाटक तथा काव्य की मौलिक अनुभूति एक ही स्तर पर उन्मीलित होती है। श्री त्रिपाठी के अनुसार काव्य मूलतः आनन्द-संविद् का हेतु है।[2] प्रकारान्तर से उनका अभिमत सुख दुःखात्मक रसानुभूति को अस्वीकार करता है तथा रस की चरम परिणति को संविद् के आनन्दपरक उन्मीलन में ग्राह्य मानता है। **'इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्'।**

सौजन्यभूषणकवेरनुजः (लेखक का नाम तथा रचना तिथि अज्ञात) रसविवेक (अपरनाम काव्यादर्श)

रसानुभूति की परब्रह्मास्वादसविध योगियों की मुक्तावस्था से तुलना एक अतिशय आदर्शीकृत प्रकल्पना है। काम का तिरस्कार करने वाले योगी भी अन्ततः काव्यार्थ के आस्वादन में मोक्षानुभूति ही ग्रहण नहीं करते श्रांङ्गारिक नाटकों के माध्यम से परमानन्द में प्रवृत्त भी होते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में रसविवेककार रसानुभूति और साधारणीकरण की

---

१. रसरत्नहार (निर्णयसागर-१९३०) काव्यमाला षष्ठगुच्छक नामसंग्रहे पृ० ११९

२. काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुर्भावेन रसवत्। (वही, पृ० ११९)

केन्द्रीय-समस्या में लोकानुभूतिजन्य रागात्मक संवेदनों का एकान्त तिरस्कार कर नहीं चलते। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि कवि जिस रसानुभूति के लिए प्रयत्नशील होता है निश्चय ही अनुकार्य एवं नट उस वृत्त से बाहर हैं। अनुकार्य अविद्यमान है और नट में धनाकांक्षाजन्य भावशून्यता है, इसलिए सहृदय ही रसानुभूति का परिशिष्ट भोक्ता है; किन्तु नट भी यदि सहृदय है, उसमें भी भावकतुल्य काव्य के रसास्वाद की परिकल्पना अनुपयुक्त नहीं है।[1] यह लेखक की समन्वय-मूलक लौकिक दृष्टि है, जो कवि, नट एवं सहृदय की रसानुभूति की प्रेरक मनोदशा में एकता का अनुसंधान करती है। लौकिक अनुभूति काव्यानुभूति में विभावित अथवा भावरूप में परिणत होकर आत्मा को उत्कर्ष प्रदान करती है। '**भावस्य चायमेवोत्कर्षः यत्रानन्दमयः स्वात्मा परिस्फुरति**' नाट्य अथवा काव्य में उस अनुभूति को गोचर एवं हृदयंगम करते ही श्रोता अथवा प्रेक्षक की वृत्तियाँ एकतान हो जाती हैं।[3] इस संदर्भ में विवेककार ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित किया है। लोकानुभूति को काव्यानुभूति में परवर्तित करने वाला मूल तत्त्व अभिव्यंजना-तत्त्व है। शब्दों में आविष्ट होते ही लौकिक भाव अलौकिकता में परिणत हो जाते हैं। '**स खलु शब्दस्य कोऽपि महिमा येन लौकिका अपि भावा तदभिधेय-दशामाविशन्तो लोकोत्तरचमत्कारकारित्वेनालौकिका सम्पद्यन्ते।**'[4] इस पृष्ठभूमि में यदि रसविवेककार की साधारणीकरणविषयक विकीर्ण अवधारणाओं एवं संवेदनों को समीकृत किया जाए तो कतिपय संदर्भों में लेखक की अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता का परिज्ञान सहज ही हो जाता है। लेखक ने अनेक स्थलों पर विशेष और अविशेष के द्वन्द्व को रेखांकित कर साधारणी-करण की अवधारणा को अधिक व्यापक आयाम दिया है। विभाव मूलतः असाधारण ही होते हैं, किन्तु भावक के निरन्तर अभ्यासजन्य काव्य-संस्कार

---

१. यदि नटोऽपि सहृदयः स्यात् तदा तस्यापि भावकस्यास्वादवत् काव्यारसा-स्वादो युज्यत एव। (र० वि० पृ० ४०)

२. रसविवेक, पृ० १०

३. नाट्य-काव्ययोः गोचरीक्रियमाणाः स्वसौंदर्यातिशयात् श्रोतृप्रेक्षकाणां वासनात्मिकायां स्वाभिव्यंजकतायां भावलक्षणायां वृत्तौ प्रसादातिशयं निदधाति। (र० वि० पृ० १०)

४. वहीं, पृ० १०

से वे अनुभाव और व्यभिचारियों से अनुविद्ध होकर विपरिवर्तित हो जाते हैं।[1] यदि विभाव असाधारण न होंगे तो वे किसी भी अप्रस्तुत अर्थ की अभिव्यंजना कर रसान्तर में परिणत हो जाएँगे तथा प्रमाता रसस्थिति से साधारणीकृत न हो सकेगा। **'यस्मिन् सति साधारणत्वेनाप्रस्तुतमप्याक्षिपन् रसान्तरमपि ध्वनयति।'**[2] साधारणीकरण की मूलभित्ति विभावों की असाधारणता की इसी भूमि पर प्रतिष्ठित है। इस संदर्भ में दूसरा तथ्य यह है कि यदि अनुभावों के मूल में विभावों का वैशिष्ट्य नहीं है तो अनुभाव अपनी साधारणता के कारण अन्य रसों के व्यभिचारियों को भी आक्षिप्त कर लेंगे और शृङ्गारादि में करुण रस की भी अनुभूति होने लगेगी।[3] 'परिहरति' में नायक के शरीर की विषम दशा के चित्रण में रुचि हटने, बुद्धि लुप्त होने, स्खलित आचरण करने आदि जिन अनुभावों की व्यंजना है, वे विभाव विशेष तक सम्बद्ध नहीं है। नायक की यह प्रतिक्रिया वियोगजन्य है अथवा शोक-जन्य, इसकी प्रतीति क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा रखती है। मानसिक प्रतिक्रिया की अनिश्चितता प्रमाता के रागात्मक एवं बौद्धिक सामंजस्य को विशृङ्खलित कर देती है। बौद्धिक सामंजस्य की अनिवार्यता साधारणीकरण की मूल प्रेरणा है।

अन्य आचार्यों के साधारणीकरण-विषयक संदर्भ

राजशेखर (८८०-९३० के मध्य) काव्यमीमांसा

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के चतुर्थ अध्याय में भावयित्री प्रतिभा के विवेचन के संदर्भ में ऐसे कुछ सूत्र दिए हैं, जिनसे साधारणीकरण की

---

१. तथापि तस्य असाधारणत्वेन भावकानामभ्यासपाटवाच्च तेन व्याप्त-मन्यतमपि चिन्तानतरविपरिवर्तित एवेति।

(रसविवेक, पृ० १३)

२. वही, पृ० वही

३. इत्यत्र यथोक्तविशेषविरहादेव रतिपरिहरादिरूपोऽनुभावः शृंगारानुगुणौ विभावव्यभिचारिणावाक्षिप्य शृंगारमुद्भावयन् यदि करुणस्यापि साधा-रणत्वाद् तदनुगुण विभावं व्याभिचारिणञ्चाक्षिप्य करुणमपि ध्वनयति

अवधारणा को अधिक व्यापक आयाम मिलता है। राजशेखर सहृदय में एक विशिष्ट संवेदनशीलता के अतिरिक्त विवेकनिष्ठा को भी अपेक्षित महत्त्व देते हैं। सत्य यह है कि सहृदय की संवेदनीयता के संदर्भ में ही कवि के सर्जन-कर्म की प्रासंगिकता है। राजशेखर ने इसे भावयित्री प्रतिभा कहा है, जो कवि के श्रम और अभिप्राय को पूरा करती है।[1] इस संदर्भ में वे कवि और भावक की अभिज्ञता का उल्लेख करते हुए कालिदास के साक्ष्य पर दोनों को इस आधार पर भिन्न स्वीकार करते हैं कि कवित्व में जहाँ रचनाकर्म का तत्त्व प्रमुख है, वहाँ भावकत्व में अंशतः मूल्यांकन की प्रक्रिया भी गतिशील रहती है।[2] वे भावकों की कोटि भी निर्धारित करते हैं, किन्तु उनका श्रेणी विभाजन का आधार मूलतः कवि-कर्म के प्रति भावक की सहानुभूति और विवेकनिष्ठा है। राजशेखर के अनुसार इन भावकों की चार कोटियाँ हैं[3] (१) अरोचकी, (२) सतृणाभ्यवहारी, (३) मत्सरी, (४) तत्त्वाभिनिवेशी।

अरोचकी भावक की अरोचकता ज्ञानजन्य अथवा स्वभावसिद्ध, दोनों प्रकार की हो सकती है। यदि यह ज्ञानजन्य है, तो अलौकिक अथवा विशिष्ट काव्य-रचना के द्वारा उसमें रुचि उत्पन्न की जा सकती है।[4]

अभिनव ने इस स्तर पर काव्यास्वाद में असमर्थ सहृदय की आस्वाद-प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस कोटि के भावकों में प्रायः बिम्बविधायिनी कल्पना-शक्ति दुर्बल होती है, अतः वे शब्दार्थ के अन्तः सम्बन्ध का साक्षात्कार नहीं कर पाते। उनकी भावयित्री प्रतिभा को उद्दीप्त

ततश्च यथोक्त-विशेषसंयुक्ता विभावादयः केवलापि प्रत्येकं प्रकृतानुरूपं स्वान्यतमद्वयमाक्षिपन्तः सहृदयहृदयान्तर्विपरिवर्तमाना रसं निष्पादयन्तीति निरुपपद्यते। (रसविवेक, पृ० १४)

१. भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री - स हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। (काव्यमीमांसा, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-१९६५, पृ० ३२)

२. एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः। (वही, पृ० ३२)

३. चतुर्द्धा इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च। तत्र विवेकिनः पूर्वं तद्विपरीतास्तु ततोऽनन्तराः इति वामनीयाः। (वही, पृ० ३३)

४. ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवति वचसि रोचकितावृत्तिरेव। (वही, पृ० ३३)

करने के लिए नाटक ही अधिक उपयुक्त माध्यम है, जिसमें गीत, वाद्य आदि के द्वारा उनकी सहृदयता को उन्मीलित किया जा सकता है।[1]

सतृणाभ्यवहारिता अधिक व्यापक और साधारण है। इस कोटि के भावक कृति की अपेक्षाओं और सम्भावनाओं का आकलन न कर अपनी मानसिकता को ही कृति में आरोपित करते हैं।[2] वे रचना का समग्रता से आस्वादन नहीं करते। मत्सरी अपने व्यक्तिगत रागद्वेष के कारण कृति के सौंदर्य-बोध की अवमानना करते हैं। अत: राजशेखर तत्त्वाभिनिवेशी को ही वास्तविक भावक मानते हैं, जो अपेक्षित संवेदनशीलता, विवेकशक्ति तथा काव्य के अभिव्यंजनापरक तत्त्वों की विशेषज्ञता के अनिवार्य गुणों से अन्वित होकर काव्य का आस्वादन करता है। स्पष्टत: राजशेखर के अनुरूप भावक की योग्यता का प्रतिमान कृति के साथ भावात्मक एवं बौद्धिक तादात्म्य ही है। यद्यपि भावक की मानसिकता के अनुरूप वे काव्यास्वाद के विभिन्न स्तरों की ओर भी इंगित करते हैं,[3] तथापि उनका अभिनिवेश मूलत: तन्मयी-भवन की उस प्रक्रिया में ही है, जिसमें निहित मानसिक साक्षात्कारात्मिका प्रतीति की ओर अभिनव ने इंगित किया है।

भावक की विभिन्न मानसिक भूमियों के उक्त विश्लेषण में भरत की नाट्यसिद्धि का आदर्श रूप समाहित हुआ है। भरत ने भावक के हृदय में उल्लखित गूढ़ विकारों की अभिव्यक्ति का उल्लेख भी किया है। राजशेखर का कथन है कि कुछ भावक वाणी द्वारा, कुछ हृदय द्वारा कुछ सात्त्विक आंगिक चेष्टाओं के द्वारा हृदयगत भावों को व्यक्त करते हैं।[4] स्पष्टत: भरत ने नाट्या-स्वाद कीभूमिका को मानुषी सिद्धि कहा है। राजशेखर की दृष्टि मूलत: अभिजातवादी है, वे सर्वसाधारणी अवसादक्षमता की अपेक्षा तत्त्वाभिनिवेशी-मूलक आस्वाद प्रक्रिया के प्रति आग्रह व्यक्त करते हैं, जिसमें अनिवार्यत:

---

१. नाट्यशास्त्रम् भाग-१, (बड़ौदा-१९५६) (वही, पृ० २८)

२. यथाहि व्युतिपत्सो: कौतुकिन: सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेक-विकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति। (वही, पृ० ३४)

३. वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्हृदयभावक:।
सात्त्विकैरांगिकै: कश्चिदनुभावैश्च भावक:॥ (वही, पृ० ३५)

४. वही, पृ० ३५

बौद्धिक एवं रागात्मक कलासंस्कारिता की अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट एवं विरल भूमिका अपेक्षित है।[1] यह आकस्मिक नहीं है कि कालिदास ने शाकुन्तलम् में ऐसे तत्त्वाभिनिवेशी भावकों की अपेक्षा उन सर्वसाधारण भावकों को महत्त्व दिया है, जो अपनी विवेक तथा रागात्मक परिवेश के अनुकूल सहज ही मधु संग्रह कर लेते हैं। राजशेखर का यह विवेचन दो दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है—प्रथम स्तर पर वे इस विवेचन में रुचिभेद को स्वीकृति देते हैं[2] तथा दूसरे स्तर पर वे रसास्वाद की उस आदर्श भूमिका की संभावनाओं की ओर इंगित करते हैं, जो भट्नायक एवं अभिनवगुप्त जैसे आदर्शनिष्ठ रसचिन्तकों में अधिक दृढ़ आधारभूमि पर प्रतिष्ठित हुई है। राजशेखर इस सन्दर्भ में साधारणीकरण के सीमांकन की ओर भी प्रकारान्तर से इंगित करते हैं। सर्वसाधारणी प्रतिभा काव्य-तत्त्वों की अविवेकपूर्ण ऋजु स्वीकृति है,[3] जबकि साधारणीकरण अपेक्षाकृत जटिल प्रक्रिया है, जो प्रत्येक अविवेकपूर्ण अनुक्रिया के लिए उन्मुक्त नहीं है। अधिकारी प्रमाता ही इसमें नूतन क्षितिजों का अनुसंधान करता है। **परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते।**'[4]

अविवेक तथा विभ्रम[5] का निराकरण रसास्वाद की भूमिका के लिए अनिवार्य है। अभिनव ने रसविघ्नों के संदर्भ में इनका स्पष्ट उल्लेख किया है। दुराराध्यता एवं मत्सरग्रस्तता काव्यास्वाद को अभेद्य बना देतीं है। कहने का आशय यह है कि काव्यकृति के आस्वाद के लिए राजशेखर एक ऐसे विशिष्ट प्रमाता के अस्तित्व की संभावना व्यक्त करते हैं, जिसमें काव्य

---

१. शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः।
(काव्यमीमांसा, पृ० ३५)

२. अभियोगे समानेऽपि विचित्रो यदयं क्रमः।
तेन विद्मः प्रसादोऽत्र नृणां हेतुरमानुषः।
(वही, पृ० ३६)

३. सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। (वही, पृ० ३४)

४. वही, पृ० ३४

५. विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते। (वही, पृ० ३४)

के कलापक्ष और भावपक्ष अर्थात् अभिव्यक्ति एवं अनुभूति की सूक्ष्म अर्थच्छाया को आत्मसात् करने की नैसर्गिक एवं अर्जित प्रतिभा है।

कुन्तक (१०वीं-११वीं शती) वक्रोक्तिजीवितम्

काव्य-सर्जन की वक्रोक्तिमूलक भूमिका में सहृदय की आस्वाद प्रक्रिया के भी सूत्र निहित हैं। कुन्तक के अनुसार अपरिष्कृत काव्य-वस्तु भी कवि की प्रतिभा से उद्भासित हो कर अभूतपूर्व दीप्ति से उद्भासित हो उठती है। यह प्रतिभासमान काव्य-वस्तु विदग्ध कवि के वाक्य में उपारूढ हो कर सान पर परिष्कृत किए हुए मणिखण्ड के समान सहृदयों को आह्लादकर होती है।[1]

वक्रता द्वारा गुणों तथा अलंकारों के सौन्दर्य का परस्पर स्पर्धान्वित हो जाना काव्यत्व का प्रयोजक है। अतः अर्थ-सम्प्रेषण में समर्पकत्व (अर्थबोधकता) तभी उत्पन्न होता है, जब एक शब्द का स्वजातीय शब्द की अपेक्षा भिन्न शब्द के साथ तथा एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ परस्पर समर्पणभाव लक्षित हो।[2] इस सौन्दर्य के परिज्ञान के अभाव में तद्विदाह्लादकारित्व सम्भव नहीं है। यह स्पर्द्धा क्रमशः संवादी तथा विसंवादी अनुभूतियों को संघनित करती है। अवान्तर वाक्य एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए से काव्य के अनिर्वचनीय सौंन्दर्य को अभिव्यक्त करते हैं। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि कहीं संवादी और कहीं विसंवादी अलंकारों की रसानुकूल-योजना सम्प्रेषण में व्याघात उपस्थित कर काव्यांश को विरस भी बना सकती है।[3] रस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जिस अर्थ के सामंजस्य से है, उस अर्थ

---

१. प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति।

(वक्रोक्तिजीवितम् (दिल्ली विश्वविद्यालय-१९५५) पृ० २३)

२. अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया।

(वही, पृ० ९०)

३. दीपकालंकारस्य च काव्यशोभाकारित्वेनोपनिबद्धस्य निर्वहणावसरे त्रुटितप्रायत्वात् प्रक्रमभंगविहितं सरसहृदयवैरस्यमनिवार्यम्।

(वही, पृ० ३३)

विशेष के अभिव्यंजक शब्द तथा अर्थ मूलत: चारुत्वविषयक होकर ही सहृदय-संवेद्य हो पाते हैं। उस चारुत्व-विशेष का प्रतिमान एक स्तर पर सहृदय-संवेद्यता है तो दूसरे स्तर पर रसमय काव्य के स्वरूप-परिज्ञान की कुशलता है जो शब्दों पर आधृत रसाभिव्यक्ति की चारुता की अभिज्ञता पर निर्भर है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि काव्यार्थ के सम्प्रेषण की भूमिका अलंकारों पर निर्भर है, तो अलंकारों का प्रयोग भी रस अर्थात् काव्यार्थ की व्यंजना पर ही निर्भर है। जैसा कि ध्वनिकार का कथन है, अलंकार-प्रयोग की शक्ति होने पर भी रसानुरूप अलंकारों की योजना होनी चाहिए। अलंकरण-प्रयोग का अनौचित्य रस-भंग का कारण होता है। कुन्तक ने काव्य के चारुत्वविधायक रूप में उपनिबद्ध अलंकारों के त्रुटिप्राय हो जाने पर प्रक्रमभंग से उत्पन्न सरस हृदयों के वैरस्य का उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में शब्दार्थ का अन्त:सम्बन्ध व्याहत होता है तथा समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्फुरित होता हुआ भी निर्जीव-सा प्रतीत होता है।[1] अर्थ के वैशिष्ट्य के अभाव में शब्द वाक्यान्तर की ओर उन्मुख होकर भी वाक्य का भार बन जाता है। तात्पर्य यह है कि काव्यार्थ का व्यापक अर्थ-संबंध जिस आभ्यन्तर मूल्यवत्ता से सम्बद्ध है, वह रचनात्मक उपकरणों तथा काव्य के मूलवर्ती अभिप्राय के द्वन्द्वात्मक सन्तुलन पर निर्भर है। जिन्हें जीवन के विराट्तर मूल्य कहा गया है, वे भी काव्य में शब्दोपहित होकर ही प्रस्तुत होते हैं। काव्य-भाषा काव्यानुभवों के बीच उन जीवन मूल्यों का ही क्रमिक अनुसंधान करती है, जिसमें रचनातत्त्वों की संवादी विसंवादी योजना चित्तवृत्ति को द्रुत, विकसित और स्फारित करती हुई द्वन्द्वात्मक समाहिति की ओर उन्मुख करती है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि चारुत्व मूलत: कवि-कल्पना पर आश्रित है। कवि की कल्पना कवि के व्यक्तिनिष्ठ अनुभूत सत्य को सार्वभौमिकता का आयाम देती है। अलंकार तथा वक्रोक्ति जिस वैचित्र्य की सृष्टि करते हैं, उससे कवि की परम्परित अभिव्यक्ति में एक वैशिष्ट्य तथा उस वैशिष्ट्य से साधारणीकृत चेतना का उद्भव होता है। कुन्तक इस संदर्भ में आधुनिक चिन्तन का पूर्वाभास देते हैं। शब्द जिस विवक्षित अर्थ का बोध कराता है, वह मूलत: कवि का विशिष्ट अनुभव-खण्ड होता है,

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० ३२

किन्तु उस अनुभूति का व्यक्तिगत वैशिष्ट्य कहीं विशिष्ट शब्द से प्रकाशित होता है और कहीं सामान्य से, किन्तु सामान्य का बोधक हो अथवा विशिष्ट वस्तु का विधायक, शब्द काव्य के आन्तरिक, यथार्थ को ही अभिव्यक्त करता है।[1]

कुन्तक के अनुसार किसी विशेष परिस्पन्द से स्फुरित होता हुआ एवं प्रकृति, प्रकरण के अनुरूप विशेष अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्द ही चमत्कारजनक होता है। अतः उस विशेष अर्थ के प्रतिपादन में जहाँ समर्थ विशेषणों का अभाव होता है, वहाँ काव्य का चारुत्व क्षतिग्रस्त हो जाता है। कवि के अनुभव की अद्वितीयता और विशिष्टता विभावों की असाधारण योजना में रूपायित होती है। सामान्यीकृत होकर वे साधारणीकरण के अयोग्य हो जाते हैं। अतः काव्य में प्रयुक्त पदार्थ नानाविध धर्मों से युक्त हो सकता है, किन्तु उस संदर्भ में एक विशिष्ट सन्दर्भ से युक्त होकर एक धर्मविशेष की प्रतिष्ठा स्वतः हो जाती है, जिसमें रस को परिपुष्ट करने की क्षमता अभिव्यक्ति पाती है। इस विशिष्ट अभिव्यक्ति में अन्य व्यापारों के नियन्त्रण के द्वारा वस्तु की स्वाभाविक महत्ता लक्षित होती है। कुश और समिधा को लेने के लिए जाते हुए वाल्मीकि जब रोने की ध्वनि की ओर अग्रसर होते हैं तो वाल्मीकि के स्वभाव में निहित अन्य धर्मों का संरोध करते हुए कालिदास केवल कारुण्यभाव से संवलित व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करते हैं। निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

यहाँ वाल्मीकि के विराट् नानाविध व्यक्तित्व का, जनकपुत्री सीता के दर्शन से विवश अंश ही प्रमाता की चेतना के केन्द्र में उभरता है। जिस परम कारुणिक क्षण में निषादविद्ध पक्षी के दर्शन मात्र से उद्भूत शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था, वह कारुणिक विशिष्ट अनुभव ही यहाँ क्रमशः सहृदय के मन में संक्रान्त होता है।[2] इस प्रकार सामान्य लोकभूमि की संचेतना से उठाए हुए विशिष्ट क्षण चारुत्व में परिणत हो कर निर्विशेषीकृत होते हैं।

---

१. शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुंदरः॥ (वही, १/९, पृ० ३८)

२. ...विवशवृत्तेरन्तःकरणपरिस्पन्दः करुणरसपरिपोषांगतया सहृदयहृदयाह्लादकारी कवेरभिप्रेतः। (वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० ४६)

औचित्य साधारणीकरण का नियामक तत्त्व है। कुन्तक ने विशिष्ट सन्दर्भों के स्तर पर अभिव्यंजना तथा भाव के इस औचित्य का विवेचन किया है। **भर्तुर्मित्रम्** श्लोक में कुन्तक ने 'अविधवे' इत्यादि पदों की सार्थकता पर विचार कर उस पदार्थ परिस्पन्द को मूर्त किया हैं, जो मेघ के दौत्य कर्म का प्राणतत्त्व है। यक्ष की पत्नी के लिए अन्यान्य विशेषणों के द्वारा नियंत्रित अविधवे पद से विप्रलम्भ और सम्भोग शृंगार की उस द्वन्द्वात्मक चेतना का मूर्त चित्र उपस्थित होता है, जिस में पत्नी, प्रिय की जीवित अवस्था में भी उसके करुण वियोग की अनुभूति के लिए अभिशप्त है।[1] यह असाधारणता ही क्रमश: यक्ष-पत्नी के सौभाग्य का द्वाभामूलक चित्र उपस्थित करती है। निष्कर्षत: कुन्तक काव्य के चारुत्व की विविध भंगिमाओं का विवेचन करते हुए सहृदय के मन:संवाद की प्रासंगिकता को विस्मृत नहीं करते।[2]

क्षेमेन्द्र (काव्य काल १०१५ से १०६६ तक) औचित्य-विचार-चर्चा

औचित्य मूलत: काव्याभिव्यञ्जना की प्राकरणिक अनुरूपता है[3], विशिष्ट संदर्भों की अनुरूपता में ही कविका अभिव्यंजना वैशिष्ट्य काव्यार्थ को प्रमाता की अतश्चेतना में संप्रेषणीय एवं स्वीकार्य बनाता है। अत: काव्यवस्तु की अभिव्यंजना और उसकी सहृदयसापेक्ष नियोजना एक अंश में साधारणीकरण के परिकरवृत्त में ही आती है और यद्यपि क्षेमेन्द्र ने साधारणीकरण का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, तथापि उनकी विवेचन प्रक्रिया में ऐसे सूत्र प्रकृतित: अन्त:समाहित हो गये हैं, जिनमें साधारणीकरण संबंधी कतिपय मूल्यवान अभिज्ञताएँ निहित हैं।

साधारणीकरण सहृदय-साधारण की आस्वाद-प्रक्रिया का समाधान प्रस्तुत करता है। इसकी प्रक्रिया गुणालंकार-संस्कृत शब्द-व्यापार से प्रारम्भ हो

---

१. वही, पृ० ४७

२. रसादिपरमार्थज्ञमन: संवादसुन्दर:। (वही, पृ० ११०)

३. उचितं प्राहुराचार्या: सदृशं किल यस्य यत्। ...यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते। तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति। अधुना सकलकाव्य-शरीरजीवितभूतस्य औचित्यस्य...

(औचित्यविचारचर्चा पृ० ३)

कर रस के विविध अवयवों की वैशिष्ट्यमुक्ति को आयत्त करती हुई परिमित प्रमातृभाव की मुक्ति तक व्याप्त है। स्पष्टतः अभिव्यंजना अर्थात् काव्यवस्तु की सहृदय-सापेक्ष विनियोजना एवं सहृदय की अनुक्रिया के विविध व्यापार औचित्यमूलक नियोजन की ही अपेक्षा रखते है। अन्तर यह है कि औचित्य-विचार में सर्जन-प्रक्रिया को केन्द्र में रखा गया है, जबकि साधारणीकरण मूलतः आस्वाद-प्रक्रिया का आख्यान है। तथ्य यह है कि क्षेमेन्द्र अभिव्यंजन की सहृदयसापेक्षता की कहीं उपेक्षा नहीं करते और इस दृष्टि से उनका विश्लेषण साधारणीकरण के मौलिक संदर्भों को भी प्रकारान्तर से रेखांकित करता है। यथा—

(क) **गुणः काव्ये भव्यः सौभाग्यवत्तामवाप्तः सहृदायनन्दसंदोहमिन्दुरिव स्यन्दति।**[1]

(ख) **विप्रलम्भभरभग्नधैर्यायाः कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना माधुर्य-सौकुमार्यादिगुणयोगेन पूर्णेन्दुवदनेव प्रियंवदत्वेन सहृदयानन्ददायिनीं दयिततमतामातनोति।**[2]

साधारणीकरण में संविद्विश्रान्ति अर्थात् प्रमाता के अन्तःकरण में काव्यार्थ का निरुद्विग्न उन्मीलन आवश्यक है। क्षेमेन्द्र भी गुण-अलंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की सार्थकता सहृदय के अन्तःकरण की विशदता में ही निरूपित करते हैं। विरह-विधुरा की पीड़ा-दशा की अभिव्यक्ति में माधुर्य की अपेक्षा ओज की स्फूर्जा परुषभाषिणी के समान चित्त में अनौचित्य का संचार करती है।[3] तद्विपरीत ललित उपमा श्रृंगाररस में अन्तःकरण को चमत्कृत करती हैं।

'वत्सेश्वरस्य कुसुमचापेनोपमा श्रृंगारावसरसरचारुतरतामौचित्येन काममपि चेतश्चमत्कारिणीमाविष्करोति।'[4]

इसी प्रकार वे काव्यानुभूति के क्षण में प्रमाता की चित्तवृत्तियों की विविध अन्तर्दशाओं का सूक्ष्म निरूपण प्रस्तुत करते हैं। यथा—

(क) **'हृदयसंवादसुन्दरमप्यनुचितत्वेन सहसैव चेतसः संकोचमिवाद-**

---

१. वही पृ० १२

२. वही पृष्ठ १३

३. स्फूर्जितोर्जितस्वभाकाधिवासिता सूक्तिः लावण्यपेशलतनुर्ललितललनेव परुषभाषिणी झटित्यनौचित्यं चेतसि संचारयति। (वही पृष्ठ १४)

४. वही पृष्ठ १५

घाति ।'[1]

(ख) योऽर्थस्तु हृदयसंवादी स यद्यनौचित्यस्पर्शलेशरहितस्तदधिक-तरामलंकारशोभां पुष्णाति ।[2]

वस्तुत: अभिव्यंजना की सार्थकता हृदय-संवाद में ही है। क्षेमेन्द्र के अनुसार अनौचित्य का परिहार करके ही काव्यार्थ हृदयसंवादी सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है ।[3] रस की शक्ति भी उसकी सकलजनहृदय-व्याप्ति में ही निहित है तथा यह संवादिता औचित्य की भूमि में ही अंकुरित होती है। **'औचित्यस्पर्शपरिहारेण केवलं हृदयसंवादसौन्दर्यमेव स्वादुतामादधाति।' ...औचित्येन भ्राजिष्णु: शृंगारादिलक्षणो रस: सकलजनहृदयव्यापी वसन्त इवाशोकतरुमंकुरितं मन: करोति ।**[4]

कहने का आशय यह है कि क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य की विविध अन्तर्दशाओं की जो व्याख्या की है, वह भी प्रकारान्तर से प्रमाता के अन्त:करण पर पड़ने वाले संवादी-विसंवादी संवेगात्मक अनुषंगों का संप्रेषणात्मक अनुभव ही है। यथा—हास्य, औचित्यमूलक शृंगाराभास से संवलित होकर ऐसी स्वादु अनुभूति प्रदान करता है जैसे आम्ररस से संवलित आसव ।[5] इसी प्रकार बीभत्स से अभिभूत होकर हास्य लहसुन की गन्ध से युक्त पुष्प-गंध की भाँति अप्रीतिकर आस्वाद देता है ।[6] करुणरस की अनुभूति पशुओं के हृदय में संक्रान्त होकर उनके अनुभाव-चित्रण के माध्यम से संवेद्यभाव को अधिक तीक्ष्ण एवं दारुण बनाती है ।[7] अश्वत्थामा की क्रूर प्रतिज्ञा केवल

---

१. वही पृष्ठ १६

२. वही, पृ० १६

३. अनौचित्यसंस्पर्शपरिहारेण केवलं हृदयसंवादसौन्दर्यमेव स्वादुतामा-दधाति । (पृ० १७)

४. औ० वि० च० पृ० १७

५. तदंगभूतशृङ्गाररसाभासस्पर्शेन हास्यरसस्य वरासवस्येव सहकाररसवेधेन सचमत्कारमौचित्यमाचिनोति । (वही पृ०)

६. अत्र हास्यरसस्य बीभत्सरसाधिवासितस्य लशुनलिप्तस्येव कुसुमशेखर-स्यातिजुगुप्सितत्वादनीप्सितस्य परमानौचित्येन चमत्कारस्तिरोहित: । (वही, पृ० २१)

७. वही, पृ० २२

उसकी स्थिरमनस्कता को विज्ञापित करती है; प्रमाता का हृदय उसमें योग नहीं देता।[1] अनुभावों के निर्देश के अभाव में भयानक रस उचित संभ्रम का भाव संक्रमित नहीं कर पाता[2]—इत्यादि निष्कर्ष प्रमाता की अनुभूति में संक्रान्त होने वाले उन विविध रागात्मक प्रभावों की ओर इंगित करते हैं, जो गुणात्मक स्तर पर भिन्न-भिन्न कोटि की रसानुभूति उद्बुद्ध करते हैं। भट्टनायक ने द्रुति, विस्तार, विकास इत्यादि के उल्लेख के द्वारा रस की इन विविध मानसिक भूमियों की ओर संकेत किया है। साधारणीकरण की व्यापक भूमि में ये विविध अन्तर्दशाएँ औचित्य के आधार पर ही हृदयसंवादी होती हैं।

क्षेमेन्द्र ने देशकाल सत्त्व इत्यादि के औचित्य का भी प्रतिपादन किया है, किन्तु इनका प्रतिमान भी सहृदय के हृदय-संवाद की योग्यता ही है। यथा—

(क) देशविषयौचित्येन हृदयसंवादिना काव्यार्थः सतां व्यवहार इव परिचयसूचकः शोभते।[3]

(ख) कुलोपचितमौचित्यं विशेषोत्कर्षकारणम्।
काव्यस्य पुरुषस्येव प्रियं प्रायः सचेतसाम्॥[4]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि भावानुभूति की अभिव्यंजना सापेक्षता की ओर होरेस ने जो संकेत दिये हैं, वे भी मूलतः पात्र-परिस्थिति तथा संवेग की औचित्यपूर्ण स्थापना पर ही आश्रित हैं। यथा शोकार्त्त व्यक्ति के मुख से दुःखपूर्ण शब्द शोभा देते हैं और क्रुद्ध व्यक्ति के मुख से रोषपूर्ण शब्द। प्रफुल्लमन व्यक्ति के मुख से परिहासपूर्ण शब्द अच्छे लगते हैं और परुष शब्द गम्भीर मुख से उपयुक्त होते हैं। प्रत्येक परिस्थिति को सहने के लिए प्रकृति पहले हमारे अंतरंग भावों को ढालती है। वह हमें या तो आह्लाद की ओर प्रवृत्त करती है या रोष की ओर अथवा मन को अवसाद से भर देती है और घोर वेदना से आच्छन्न कर देती है। तब वाणी की

---

१. विषमव्यथाकश्मलशिथिलमश्वत्थाम्नः स्थेमानं प्रतिज्ञापयति।
(वही, पृ २८)

२. वही, पृ० २४

३. औ० वि० च० पृ० ६५

४. वही, पृ० ६७

सहायता से वह भाव का अभिव्यंजन करती है।[1]

क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस काव्य में किसी जीवन-सत्य की मार्मिक एवं औचित्यपूर्ण योजना के प्रति सहृदय का काव्यबोध अधिक सुनिश्चित होता है वही काव्य अधिक हृदयसंवादी होता है।

'काव्यं हृदयसंवादी सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः॥[2]

समग्रतः क्षेमेन्द्र के अभिव्यंजना तथा रसविधान के औचित्यपरक सूत्र सहृदय के तादात्म्य एवं रसानुभूति के संदर्भों का आकलन कर साधारणीकरण की अनेक अनालोचित दिशाओं की ओर इंगित करते हैं। दृष्टि उनकी सौष्ठवपरक है, जिसमें मनोवैज्ञानिक अन्तःसूत्र उभर कर अमूर्त चिन्तन को मूर्त्त एवं सघन करते हैं।

मम्मट (११वीं शती उत्तरार्द्ध) काव्यप्रकाश)

अभिनव के अनन्तर साधारणीकरणविषयक विप्रतिपत्तियों को एक विराम मिला। मम्मट तथा हेमचन्द्र जैसे चिन्तक अपने अनुभूत परिवेश से उद्भूत प्रश्नों के समाधान की अपेक्षा पूर्वनियोजित स्थापनाओं के व्यवस्थित निरूपण में प्रवृत्त हुए। मम्मट ने आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव की उपलब्धियों को तो निर्भ्रान्त सुनियोजित प्रतिष्ठा की ही, अभिनव-पूर्ववर्ती लोल्लट एवं भट्टनायक की अवधारणाओं को भी उन्हीं के चिन्तन के आलोक में अधिकाधिक विषयीनिष्ठ बनाकर प्रस्तुत किया। परिणामतः सामाजिक का दृष्टिकोण उनके रसचिन्तन के केन्द्र में अधिकाधिक उद्भासित होता गया। साधारणीकरण के विवेचन में भी वे निर्भ्रान्त मान्यता अभिनव के मत को ही देते हैं। किन्तु भूमिका रूप में भट्टनायक के अभिमत को भी यथावत् प्रस्तुत करते[3] हुए साधारणीकरण को भावकत्व व्यापार की आत्मा सिद्ध करते हैं। परवर्ती टीकाकारों के आलोक में साधारणीकरण की व्याख्या में सीतादि कामिनी की सामान्य रूप में उपस्थिति अथवा विभावादि

---

१. काव्य-कला (होरेस) पृ० ६

२. औ० वि० च० पृ० ७०

३. ...काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व-व्या।।रेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।
(काव्यप्रकाशः (बालबोधिनी) पृ० ९०)

एवं स्थायी के विशेषांश का परिहार अथवा सम्बन्धवैशिष्ट्य से मुक्ति इत्यादि के अनुषंग[1] उनकी अवधारणा में अनुस्यूत होते गये हैं। प्रसंगप्राप्त स्थलों पर इनका विवेचन हुआ है।

अस्तु, अभिनवगुप्त के अभिमत में विशेष आस्था प्रदर्शित करते हुए उन्होंने विशेष बल विभावादि में निहित व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित अंश के तिरोधान पर दिया है।

मम्मट के अनुसार विभावादि शब्दों से अभिधानित प्रमदा आदि कारण, कार्य एवं सहकारी सम्बन्धविशेष के स्वीकार अथवा परिहार के अनिश्चय के कारण व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से रहित साधारणीकृत रूप से अभिव्यक्त होते है। सामाजिक अपनी वासना में विद्यमान रति आदि स्थायिभावों का भी साधारण उपाय से व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से मुक्त होकर आस्वाद करता है। उसमें परिमित प्रमातृभाव का तिरोधान हो जाता है तथा वैद्यान्तर अनुभूतियों के शून्य हो जाने पर अपरिमित प्रमातृभाव उन्मीलित होता है। यह अनुभूति समस्त सामाजिकों के हृदयों को समान रूप से आस्वाद्य होती है। प्रमाता आत्मसाक्षात्कार में चिद्‌रूप से अभिन्न आनन्दमय आत्मा के विषयरूप में रसानुभूति को ग्रहण करता है। यह आस्वाद्यरूप अनुभूति प्रमाता के हृदय में प्रविष्ट होकर अन्य अनुभूतियों को निराकृत करती हुई ब्रह्म-साक्षात्कार के रूप में ही अनुभव होती है।[2] आशय यह है कि नियत प्रमातृभाव की मुक्ति, वासना-संवाद के कारण रस की

---

१. भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत् सीताविशेषांशकामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धविशेषानवच्छिन्नत्वेन। (काव्य प्रदीप, पृ० ३८)

२. अन्यसंबन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांशपरिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरणं तदात्मना।

(काव्यप्रकाश, पृ० ६१)

...ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति संबन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः रत्यादि।

(काव्यप्रकाश (झलकीकर), पृ० ६१-६२)

एकघनप्रतीति तथा रति आदि स्थायिभाव की देशकालातीत चेतना एवं अनुभूति का साधारण्य मम्मट की साधारणीकरणविषयक अवधारणा के मूल सूत्र हैं, जो अनिवार्यतः अभिनव के चिन्तन में उनकी आस्था व्यंजित करते हैं।

मम्मट नेति नेति की निषेधमूलक भूमिका[1] पर दो विशिष्ट संदर्भों में सामान्यीकृत चेतना का भी अनुसंधान करते हैं। उल्लेखनीय यह है कि अभिनव की शब्दावली का पुनरनुवाद करते हुए भी मम्मट प्रत्यभिज्ञादर्शन को पूर्णतः स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि मूलतः सौष्ठववादी तथा एक अंश तक व्यावहारिक है, जिसे वे दार्शनिक अतिवाद से मुक्त रखते हुए अद्वैत वेदान्त के काव्योचित धरातल पर प्रस्तुत करते हैं।

हेमचन्द्र (काल १०८८ से ११७२ ई०) काव्यानुशासनम्

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन अभिनवभारती, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक तथा लोचन के अनेकानेक उद्धरणों और अभिमतों का संग्रह होने के कारण कोई मौलिक अवधारणा तो प्रस्तुत नहीं करता, किन्तु रस-चिन्तन के सदर्भ में अभिनव की अवधारणा में आस्था व्यंजित कर साधारणीकरण की शृंखला में अपना योग अवश्य देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनव भारती का रस-प्रकरण काव्यानुशासन विवेक में पूरा-पूरा उद्धृत है, अतः साधारणीकरण-विषयक अवधारणा की दृष्टि से उसका मौलिक योग नहीं है। केवल उल्लेखनीय यह है कि काव्यानुशासन के मूल अंश में मम्मट का मत प्रस्तुत किया गया है। यही अवधारणा हेमचन्द्र की निजी अवधारणा प्रतीत होती है। लोक में प्रमदा आदि विभाव काव्य तथा नाटक में लौकिक कारणत्व की संज्ञा से मुक्त हो कर विभावन-व्यापार में परिणत हो जाते हैं।[2] फलतः ये विभाव मेरे शत्रु के या तटस्थ के हैं, अथवा ये न मेरे

---

१. स च न कार्यः। विभावादिविनाशेऽपि तस्य संभवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासंभवात्।

(वही पृ० ९३-९४)

२. काव्यनाट्यशास्त्रप्रसिद्धैरालम्बनोद्दीपनस्वभावैर्ललनोद्यानादिभिः, स्थायि-व्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनोऽनुभवन्ननुभाव्यते।

(काव्यानुशासनम् (निर्णयसागर-१९३४) पृ० ६७)

हैं, न शत्रु के, न तटस्थ के ही, इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार अथवा परिहार का अनिश्चय होने से साधारण रूप में अभिव्यक्त होने लगते हैं।[1] इस प्रकार हेमचन्द्र साधारणीकरण की स्थिति दोनों स्तरों पर स्वीकार करते हैं। एक स्तर पर प्रमाता अपने वैशिष्ट्य से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक स्तर पर काव्य का आस्वाद करता है तो दूसरे स्तर पर काव्य में उपस्थित विभाव आदि निर्विशिष्ट हो कर सामाजिक की आस्वाद-चेतना में अभिन्न रूप से समंजित हो जाते हैं। वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्यता, अपरिमितप्रमातृभाव, सहृदय का हृदय-संवादजन्य साधारण्य हेमचन्द्र की अवधारणा के विशिष्ट बिन्दु हैं।

सागरनन्दी (नाटकलक्षणरत्नकोश) ११वीं शती

सागरनन्दी ने प्रत्यक्षत: साधारणीकरण का विवेचन नहीं किया है, अतः उनका तत्सम्बन्धी योगदान निम्नलिखित संकेतों की दृष्टि से ही उल्लेखनीय है।

नाटक के लक्षण में उन्होंने महारस एवं महाभोग्य शब्दों का प्रयोग किया है, जो रस के सर्वसाधारण-भोक्तृत्व को परिभाषित करते हुए नाटक की केन्द्रीय चेतना में साधारणीकरण की मौलिक संभावना व्यक्त करते हैं।

'महारसं महाभोग्यमुदारवचनान्वितम्।
महापुरुषसंचारम् सालंकारन्तु नाटकम्॥'[2]

नाटक में, प्रख्यात वस्तु अथवा प्रसिद्ध आख्यान में 'लोकानुरंजन कर्म' ही संभावना के केन्द्र में रहता है, अतः वैश्व संदर्भ प्रमुख तथा वैयक्तिक सन्दर्भ गौण हो जाते हैं।

'तत्र प्रख्यातवस्तुविषयमिति राजर्षिवंशजातानाम् राज्ञां प्रसिद्धमाख्यानम्

---

१. लोके कारणकार्यसहचारिशब्दव्यपदेश्यैर्ममैवैते परस्यैवैते न ममैते न परस्यैते इति संबन्धिविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायात्साधारण्येन प्रतीतेरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनारूपेण स्थितः स्थायी रत्यादिको भावो नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् सहृदयहृदय-संवादभाजा साधारण्येन गोचरीक्रियमाणतैकप्राणो...स्वसंवेदनसिद्धो रसः (वही पृ० ६८)

२. ना० ल० र० पृ० ४

वस्तु यत् खलु लोकानुरंजनकर्म ।[1]

सागरनन्दी के अनुसार नाटकीय वस्तु के केन्द्र में ही नहीं सारभूत प्रभाव में भी सर्वलोकानुरंजनत्व अपेक्षित है। 'नाटकविद्येयं सर्वलोकानुरंजनी'। यह दृष्टि निश्चय ही काव्य के समष्टिगत आस्वाद के अन्त:संदर्भ को निर्धारित करती है। सागर का कथन हैं कि रस एवं भाव में परस्परोपकारत्व रहता है। भाव रस को तथा रस भाव को उपकृत करते हैं। तथा परस्पर सम्बद्ध हो कर प्रेक्षकों को आह्लाद प्रदान करते हैं ।[2] यह दृष्टि साधारणीकरण की अन्तरंग परिकल्पना से भिन्न नहीं है। अभिनव के अनुसार अनुभूतियों में परस्पर गुणभाव भी होता है। प्रमाता नाटक में यद्यपि मुख्य रस में ही तन्मय होते हैं, किन्तु अपनी वस्तुपरक अथवा सूक्ष्म दृष्टि के कारण एक ही रूपक में वे पृथक्-पृथक् प्रभाव ग्रहण करते हैं। **'यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां लक्ष्यते ।**[3]

सर्वेश्वर कवि (साहित्यसार:) ११०० ई०

सर्वेश्वर कवि के 'साहित्यसार' में रस तथा भाव संबंधी कतिपय परम्परागत सूचनाएँ ही उपलब्ध हैं, तथापि उनकी प्रेक्षक की परिभाषा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि वे मात्र प्रमाता की तन्मयता पर ही बल नहीं देते, वस्तुतत्त्व के प्रति उसकी विवेक-परक अन्त:प्रक्रिया को भी अनिवार्य मानते हैं।

वस्तुनस्तत्त्वमास्थाय तन्मयत्वेन भावक: ।
सुप्रसन्नाशय: प्रोक्त: प्रेक्षको नाट्यकोविद: ।।'[4]

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रमाता के रागतत्त्व में विवेक की संपृक्ति आधुनिक नाट्य-समीक्षा की विशिष्ट देन है। स्पष्ट है कि सर्वेश्वर की

---

१. वही

२. यथा भोक्तुरन्नं व्यंजनमुपकुरते व्यंजनमन्नं ततो रस: स्यात्तथैव भावान् रसा: रसांश्च भावा उपकुर्यु: परस्परं सर्वदा सम्बद्धा: प्रेक्षकान् मनांसि प्रमोदेनोपतिष्ठन्ते । (पृष्ठ १८३)

३. नाट्यशास्त्रम् (संपादक-रामकृष्ण कवि) पृ० २८२

४. सा० सा० पृष्ठ १० (प्रथम प्रकाश)

काव्य-दृष्टि एकान्त आत्मनिष्ट नहीं है। अनुकार्य में स्थित सुख-दुःखात्मक भावों के निरन्तर समुद्भेद के अनुभावन की ओर इंगित कर वे अपनी वस्तुनिष्ठ दृष्टि का स्पष्ट परिचय देते हैं।

सुखदुःखादिभिर्भावैरनुकारिण्यवस्थितैः ।
निरन्तरसमुद्भेदैः भावस्तद्भावभावनम् ।।[1] (पंचम प्रकाश: ५/६)

रामचन्द्र गुणचन्द्र (१२वीं शती का पूर्वार्द्ध) भी रस की अनुभूति को सर्वत्र सुखात्मक न मान कर दुःखात्मक भी मानते हैं।[2] उनकी अवधारणा सर्वेश्वर के समानान्तर ही विकसित हुई है। **'कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति।'**[3]

अग्निपुराण (१२०० ई० के लगभग)

अग्निपुराण में रस-विषयक निरूपण भोज की सरणि पर ही है। किन्तु, शैव-दर्शन अथवा वेदान्त-चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में यह अवधारणा कुछ अंश में भोज के रस-चिन्तन से भिन्न हो गई है। यह सम्पूर्ण सृष्टि अक्षय शाश्वत एवं अजन्मा परब्रह्म से अभिव्याप्त है। आनन्द उसका सहज गुण है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सदैव नहीं होती। जब वह अभिव्यक्त होता है, तो उसी का चैतन्य चमत्कार रस रूप से अभिहित होता है।[4] अभिव्यक्ति का प्रथम विकार, अहंकार है, जिससे अभिमान की उत्पत्ति होती है। अभिमान से रति तथा रति व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर शृङ्गार रस में पर्यवसित हो जाती हैं। इस स्तर पर अग्निपुराण में अहंकार की लौकिक भूमिका को चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रथम विकार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[5] अहंकार रसात्मक परिणति की सीमा नहीं है, वह चिदानन्द ब्रह्म

---

१. वही पृष्ठ ४१

२. सुखदुःखात्मको रसः (नाट्यदर्पण, श्लोक १०६, पृ० २०६)

३. हि० ना० द० पृ० २६१

४. आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ।।
(अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग ३/२, पृ० ३७)

५. आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
(वही, पृ० वही)

की आनन्दमयता का अवान्तर व्यापार है। रसानुभूति की चरमकोटि इसी आनन्दमयता में निहित है। दार्शनिक प्रतीकों से मुक्त कर यदि इस विवेचन को देखा जाए तो अभिनवगुप्त एवं भट्टनायक[1] को साधारणीकरण विषयक अवधारणा के कुछ सूत्र इसमें सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। ब्रह्म रस-स्थानीय है, उसके आनन्दमय स्वभाव के निवारण के लिए अहंकार का रति रूप में परिणत तथा व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होना आवश्यक है[2], तभी रसाभिव्यक्ति की चैतन्य चमत्कारपरक भूमिका स्थापित होती है। भोज ने रसास्वाद की प्रक्रिया को भावना व्यापार के अन्दर से गतिशील बनाकर अखण्ड सात्त्विक अहंकार की आस्वादपरक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। अग्निपुराण इस अहंकारात्मक भूमिका को आनन्दमय परिणति का साधन मानकर सत्त्वोद्रेक एवं आनन्दमय प्रकाश की संविद्विश्रान्ति तक पहुँचता है। रसास्वाद की चिदावरण-भंग-मूलक अवधारणा का पूर्वाभास अग्निपुराण के रस-चिन्तन में निहित है, और यह अवधारणा साधारणीकरण की प्रक्रिया को बल देती है।

साहित्यमीमांसा (रचनाकाल १८वीं शती) अज्ञात (अथवा मंखुक) कर्तृक

रसानुभूति, शब्दार्थ में पुनर्भावित जीवनानुभूतियों के लोकोत्तर परिवेश को परिभाषित करती है। अपनी रूपात्मक पूर्णता के लिए काव्यानुभूति का शब्दबद्ध होना अनिवार्य है। इस संदर्भ में साहित्यमीमांसा काव्यानुभूति के क्षेत्र में भावना के महत्त्व को बड़ी प्रबलता से स्वीकार करती है। वेश्यादि का आलिंगन भी आनन्दप्रद हो सकता है, इसकी प्रत्यक्षानुभूति रसानुभूति नहीं है। रसानुभूति का क्षेत्र शब्दार्थजन्य भावना ही है। **'वरांगनालिंगनादि जनितरसभावनया न परमरसप्राप्तिः। शब्दार्थभावनाया एवं शक्यत्वात्'**[1] लेखक का कथन है कि लौकिक अनुभूति दुःखद भी हो सकती है, किन्तु काव्यार्थ का क्योंकि अनुभावन प्रतिभावन किया जाता है, अतः बाह्य लौकिक ऐन्द्रिय अस्तित्व से मुक्त होकर वह निर्बाध सन्देह-रहित इन्द्रियातीत स्वरूप

---

१. सत्त्वादिगुणसंतानाज्जायन्ते परमात्मनः। (वही, ३/६, पृ० ३८)

२. वही, ३/४, पृ० ३७

३. साहित्यमीमांसा (अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली) १९३४, पृ० १६१

में परिणत हो जाता है। फलतः मेरे तेरे[1] का भेद समाप्त हो जाने से सभी प्रमाता एक ही सुखात्मक अन्तःसूत्र में निबद्ध हो जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि केवल लौकिक अनुसंधान अथवा ज्ञान मात्र से रसानुभूति का उद्रेक नहीं होता, पुनः पुनः भावनात्मक अनुसंधान के द्वारा ही काव्यार्थ को मानसी प्रतीति का विषय बनाया जाता है। मैं राम का अनुसंधान करता हूँ या काव्यात्मक प्रतीकों से उसके स्वरूप को पहचानता हूँ, यह बोध रसोत्पत्ति में चरितार्थ नहीं हो सकता।[2] संविद् का संवेदन मात्र पर्याप्त नहीं है, पुनः पुनः शब्दों के माध्यम से उस प्रतीति का अनुभावन अपेक्षित है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि शब्द का रागात्मक अनुसंधान किया जाये। 'पश्यति स्त्री' से वह रागात्मक बिम्ब नहीं उभरता, जो 'विलोकयति कान्ता' में मूर्त होता है। कवि अपने अनुभव को कला-संस्कार के माध्यम से ही सम्प्रेषणीय बनाता है, यह कला-संस्कार शब्दों के विशिष्ट प्रयोग पर अवलम्बित है।[3] रिचर्ड्स ने संकेतात्मक और रागात्मक भाषा-संदर्भों का उल्लेख किया है। किसी विशिष्ट रस-सम्प्रदाय से निरपेक्ष मंखुक (?) का यह विवेचन शब्द और भावना के सर्जनात्मक तथा संवेदनात्मक विकास की इन संभावनाओं से युक्त है।

वाग्भट्ट प्रथम (१२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) वाग्भटालङ्कार तथा वाग्भट्ट द्वितीय (१४वीं शताब्दी के लगभग) काव्यानुशासन

काव्यविषयक आवश्यक तथ्यों तथा अलंकारों के विवेचन के अतिरिक्त वाग्भटालंकार के अन्तिम (पंचम) परिच्छद में रस-लक्षण, रस-भेद एवं नायिका-भेद का भी विवेचन है। वाग्भट की दृष्टि में रसहीन काव्य उत्तम रीति से पकाये हुए निर्लवण भोजन की भाँति अनास्वाद्य है।

'साधुपाकेऽप्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥[3]

---

१. वही, पृ० १५९

२. वही, पृ० १५९

३. तच्च शब्दस्य माहात्म्यमरसोऽपि मनो यतः।
शब्दो नावस्थितोऽयं करुणो विरसीकृतः॥ (वही, पृ० ७९)

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि काव्यानुशासन के पंचम अध्याय के प्रारम्भ में भी यही श्लोक है।[1] किन्तु दोनों ही आचार्यों ने रसानुभूति की आस्वाद्यता को किसी शास्त्रीय अशास्त्रीय आधार पर विश्लेषित नहीं किया है। दण्डी तथा भट्टलोल्लट के समान ही वाग्भट की भी अवधारणा है कि विभाव अनुभाव, व्यभिचारियों से उत्कर्ष को प्राप्त स्थायिभाव ही रस कहा जाता है।

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकै व्यभिचारिभिः।
आरोप्यमाण उत्कर्षः स्थायिभावो रसः स्मृतः॥[1]

भट्ट लोल्लट के अनुसार यदि **विभावादिभिरुपचितो रसः** या दण्डी के अनुसार **श्रृंगारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन**' है तो वाग्भट्ट **आरोप्यमाण उत्कर्षः** के द्वारा इस तथ्य की ही आवृत्ति करते हैं। स्पष्ट है कि भट्टलोल्लट की सीमा का अतिक्रमण कर भट्टनायक अथवा अभिनव के अभिमतों की ओर वे उन्मुख नहीं हो सके हैं। वाग्भट द्वितीय अवश्य रसों के स्वरूप निर्णय में चित्त के विकास, विस्तार, संकोच इत्यादि का उल्लेख कर रसानुभूति की नानारूपता की ओर इंगित करते हैं, जिसके मूल में भट्टनायक के द्रुति विस्तार, विकास की अवधारणा का योग है। प्रतिभा के संबंध में वाग्भट द्वितीय का कथन है कि वह ज्ञानावरण की उपक्षायिका है।[2] इस धरातल पर वाग्भट-द्वितीय साधारणीकरण की पार्श्वरेखा का स्पर्श कर जाते हैं।

विजयवर्णी (१३वीं शती ई० प्रारम्भ) श्रृङ्गारार्णवचन्द्रिका (अपरनाम अलङ्कारसंग्रह)

श्रृङ्गारार्णवचन्द्रिका का प्रतिपाद्य श्रृङ्गार ही नहीं है, इसमें शब्दार्थ-रसभाव, गुण रीति, वृत्ति, शैय्या पाक, अलंकार आदि का पृथक्-पृथक् दस अध्यायों में संक्षिप्त निरूपण भी है। तृतीय 'रसभाव-निश्चय' नामक अध्याय में रस के विविध अवयवों का संक्षिप्त विवेचन है। उनकी धारणा है कि नीरस काव्य सहृदयों के मन को आकर्षित नहीं करता,[3] किन्तु सहृदय तक वह कैसे संक्रमित होता है, इस विषय पर उनका अभिमत है कि रसिक

१. काव्यानुशासनम् निर्णयसागर-१६८४ सं० ५/१ पृ० ५३
२. वाग्भटालंकार ५/२ (चौखम्बा-१६५७) पृ० ६८
३. सा च ज्ञानावरणीयादिकर्मक्षयोपहेतुका (का० अनु० पृ० २४)

अपने कर्मों के अनुसार रसों का भोग करते हैं।[1] प्रकारान्तर से वे प्रमाता के संस्कार-वैभिन्य तथा रुचि को महत्त्व देते हैं।

काव्य में रस की अनुभूति श्रव्य बिम्बों पर आधृत है, जो रस भावार्थ के मर्मज्ञों को आवेदित करती हैं। नाटक में रसानुभूति दृश्य बिम्बों के माध्यम से प्रेक्षकों को आस्वाद्य होती है,[2] किन्तु काव्य-रस मूलतः सामाजिक की स्मृति पर आधृत होने के कारण अधिक तात्त्विक होते हैं। इसमें प्रमाता की अन्तश्चेतना जागृत रहती है, जबकि नाट्य-रस काल्पनिक दृश्यों की अवतारणा से कल्पनाजन्य सम्मोहन का आस्वाद प्रदान करता है।

दृश्यत्वाद् रसभावानां नटे काल्पनिको रसः।
सामाजिके तात्त्विकस्तु रसो निजरसस्मृतेः॥[3]

अभिनव ने भी प्रबन्ध की अपेक्षा नाटक को अधिक सशक्त माध्यम माना है, किन्तु काव्य में प्रमाता की अन्तश्चेतना की परिपक्वता अधिक आवश्यक है। इन पार्श्विक रेखाओं के अतिरिक्त साधारणीकरण की मूल समस्या पर लेखक ने अपना अभिमत व्यक्त नहीं किया है।

जयदेव (१३वीं शती मध्यकाल) चन्द्रालोक

पीयूषवर्ष जयदेव की प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। मम्मट के काव्यलक्षण का व्यंग्य-चमत्कार-पूर्ण ढंग से प्रत्याख्यान अथवा पुनर्मूल्यांकन कर उन्होंने अपनी विशिष्टता प्रदर्शित की है, किन्तु अनुष्टुप् की परिमित परिधि में निरूपणीय विषय के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करने की सूत्रबद्धताजन्य अनिवार्यता के कारण साधारणीकरण जैसे तार्किक विषय की वे उपेक्षा कर गये हैं। साधारणीकरण की परिधि में आने वाले, पूर्वप्रतिष्ठित वेद्यान्तर-

---

१. भुवने रसिका लोका रसान् स्वाभाविकानलम्।
भुञ्जते निजकर्मानुसारेण बहुधा सदा॥ (३/२४ पृ० १४)

२. काव्येषु ते विभावाद्याः श्रूयमाणा रसं नृणाम्।
श्रोतॄणां पोषयन्त्यत्र रसभावार्थवेदिनाम्॥
दृश्यमाना नाटकेषु ते भावा जनयन्त्यलम्।
प्रेक्षकाणां रसं सर्वे नाट्यशास्त्रार्थवेदिनाम्॥
(३/१०-११ पृ० १२-१३)

३. वही, पृ० १४

शून्यता के प्रतिमान के प्रति उन्होंने अवश्य आस्था दिखाई है। वस्तुतः षष्ठ मयूख में रसस्वरूप का विवेचन किसी वस्तु-निष्ठ पुनर्व्याख्या की अपेक्षा उनके आत्म-सत्य का ही अधिक साक्ष्य देता है। उनका विचार है कि काव्य नाट्य के स्तर पर कल.सृष्टि मूलत: लौकिक अनुभूति का ही विभावों द्वारा पुनर्भावित स्वरूप है। कार्य के स्तर पर विभावों द्वारा विभावित हो कर यही अनुभूति रसानुभूति में परिणत होती है, जो निश्चय ही आह्लादकर एवं आस्वाद-स्वरूप है। अनुभूति के इस उल्लास-क्षण में ज्ञातव्य पदार्थों से भिन्न पदार्थों की अनुभूति नष्ट हो जाती है।

गलद्वेद्यान्तरोद्भेदं हृदयेष्वजडात्मनाम् ।
मिलन्मलयजालेप इवाह्लादं विकासयन् ॥२॥
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः ।
आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥३॥[1]

स्पष्टतः '**विभावाद्यैर्विभावितः**' में उनकी आस्था विभावादि के साधारणीकरण में प्रतीत होती है, किन्तु यह विभावन व्यंजना-व्यापार के माध्यम से ही उन्हें स्वीकार्य है। **अजडात्मा** शब्द स्पष्टत: '**अधिकारी चात्र विमल-प्रतिभानशालिहृदयः**' सहृदय की ओर संकेत है, किन्तु विवेकपरकता और राग-चेतना को समन्वित कर उन्होंने अपनी अवधारणा को अधिक अर्थपूर्ण एवं व्यापक बना दिया है। समग्रतः उनकी अवधारणा अभिनव की उपजीवी है। उन की आस्था है कि काव्यास्वाद मूलत: जडता, नीरसता तथा हृदय की मलीनता को दूर कर सहृदय के अन्त:करण को चैतन्यपूर्ण बनाता है।[2] यह साधारणीकरण की भूमिका है।

अलंकारमहोदधि (१३वीं शती) लेखक नरेन्द्रप्रभसूरि

साधारणीकरण की अवधारणा का अन्वेषण नरेन्द्रप्रभसूरि ने प्राचीन आचार्यों की परम्परा में किया है। उन्हीं की तार्किक शैली तथा निष्कर्षों से सूरि ने अपनी अवधारणा गुम्फित की है। भट्टनायक की सरणि पर सूरि ने बड़े कौशल से उत्पत्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद का खण्डन कर भावना-व्यापार को प्रतिष्ठित किया है। प्रमाता तटस्थ रूप से रस की अनुभूति नहीं कर सकता, क्योंकि आश्रय उसके अनुभव क्षेत्र से बाहर है। आत्मगत

---

१. चन्द्रालोक. ६/३ पृ० २५४
२. वही, १/१-२ पृ० १, ३

रूप में भी रसानुभूति सम्भव नहीं है। सीतादि विभावों के प्रति प्रमाता काम-भावना नहीं रख सकता। विभावादि कारणों के निवृत्त हो जाने पर रसबोध भी समाप्त हो जाता है। अतः रस की उत्पत्ति मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि उत्पन्न पदार्थ कारण के समाप्त हो जाने पर भी शेष रहते हैं[1], इत्यादि अवधारणाएँ केवल परवर्ती काव्यशास्त्रीय विकास के ऐतिहासिक संदर्भ को इंगित करती हैं। भट्टनायक की भाँति नरेन्द्रप्रभसूरि काव्यनाट्य में अभिधा के अनन्तर उदभूत होने वाले भावना-व्यापार से पुनर्भावित संविद् विश्रान्ति की ओर संकेत करते हैं।[3] भावक व्यापार में व्यंजना-व्यापार की अपेक्षा कोई विशिष्टता नहीं है[3] यह विचार भी भट्टनायक की आलोचना-यात्रा का परम्परित बिन्दु है। इस संदर्भ में उनके सिद्धान्त की नवीनता अनुबन्धों की योजना में लक्षित होती है। अनुबन्ध-प्रक्रिया रसानुभूति की विविध दिशाओं को परिभाषित करती है।[4] मूलतः यह अनुभावों के स्थायी भावों के साथ अनुबन्धन की प्रक्रिया है। जब अनुभाव एकाकी या सम्मिलित होकर पूर्व उन्मीलित रति स्थायी अथवा अन्य भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं तो उनके पुनः पुनः उद्बुद्ध होने, एकत्र होने अथवा सम्मिलित होने में वैचित्र्य का उद्रेक होता है।

विश्वेश्वर (१४वीं शती का पूर्वार्द्ध): चमत्कारचन्द्रिका

ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट है कि विश्वेश्वर काव्यास्वादजन्य अनुभूतियों की अन्विति का नियामक चमत्कार को मानते हैं, किन्तु तथ्य यह है कि चमत्कार की प्रामाणिकता भी अंशतः प्रमाता के आनन्दोद्रेक में ही निहित

---

१. न ताटस्थ्येन रसः प्रतीयते स्वव्यतिरिक्ताश्रयप्रतीतौ रसनीयत्वाभावात्। नाप्यात्मगतत्वेन सीतादावपि कामित्वप्रसंगात्। नाप्युत्पद्यते विभावादि-कारणानां निवृत्तावपि घटादिवत् तस्यावस्थानप्रसंगात्। न च व्यज्यते प्रदीपाद्यभिव्यंग्यघटादिवत् पूर्वसिद्धत्वाभावात्। (अलंकारमहोदधि बड़ौदा-१९४६ पृ० ५७।)

२. काव्ये नाट्ये वाभिधानन्तरोद्भवेन परमानन्दसंवलितसंविद्विश्रान्तिरूपेण ......(वही)

३. भावकव्यापारस्य व्यंजनाव्यापारादाधिक्यममृष्यन्। (वही)

४. भावो जन्मानुबन्धोऽथ निष्पत्तिपुष्टिसंकरै ह्रासस्येति बुधैः सप्तरसस्य प्रक्रिया (पृ० ९०)।

है। **'चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।'**[1] इसका स्पष्ट आशय यह है कि कवि गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या अथवा अलंकृति के माध्यम[2] से जो रचना चमत्कार उत्पन्न करता है, उसकी चरम सार्थकता भी चेतोरंजन[3] अथवा सहृदयों की चित्तवृत्तियों की आनन्दानुभूतिपरक एकतानता में ही निहित है। विश्वेश्वर की दृष्टि में काव्य का प्राणतत्त्व रस ही है। इसका प्रबल प्रमाण है कि कविता विशिष्ट संस्कार-सम्पन्न प्रमाता को ही ग्राह्य होती है।[4] रस ही काव्य की कमनीयता का चरम प्रतिपाद्य है। **'तदन्वयेन काव्यश्री: कमनीयत्वमागता।'**[5] विश्वेश्वर की दृष्टि में रस की सत्ता का सबसे प्रबल साक्ष्य सहृदय की निजी अनुभूति ही है। **'स्वानुभूतिविलसनमेव रसस्य सद्भावे प्रमाणमिति परमं रहस्यम्'**[6] रस की मूल शक्ति इस तत्त्व में निहित है कि भावयित्री प्रतिभा-सम्पन्न सहृदय अपनी-अपनी भावना विशेष के अनुरूप समानुभूति के स्तर पर काव्यार्थ का अनुभावन करते हैं।[7] यह अनुभावन एक स्तर पर बाह्य लौकिक प्रयोजनों का निषेध करता है तथा दूसरे स्तर पर पुन: पुन: अनुचिन्तन के माध्यम से काव्यार्थ को भावनासिद्धि में पर्यवसित कर देता है।[8] भावनासिद्धि का आशय यह है कि रसबोध मानस साक्षात्कार से अभिन्न अनुभूति है, जिसमें एक ऐसी विशिष्ट भावना की सहकारिता अपेक्षित रहती है, जो संस्कार और दीर्घ अभ्यास की भूमि में अंकुरित होती है।

---

१. चमत्कारचन्द्रिका पृ० २

२. गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्याम् अलंकृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधा:॥ (वही पृ० १)

३. चेतोरंजनकरीति वृत्तिकलिता। (पृ० १)

४. शय्यामञ्चति कामिनीव कविता कस्यापि पुण्यात्मन:। (वही. पृ० १)

५. चमत्कारचन्द्रिका पृ० १०७

६. वही, पृ० १२८

७. ननु कोऽयमाकारो रसस्य येनायं भावुकमानसैरनुभूयत इति चेत् स्व-स्वानुभवैकनिवेदनीये तस्मिन्नाकारे कथमस्मादृशां वाचो व्यापारमात्मीयमापूरयेयु: (वही, पृ० १२७)

८. विगलितवेद्यान्तरमिति वचनपरिपाटीं मनसि मुहुरावर्तयता भावनासिद्धि-पर्यन्तं सन्तोष्टव्यमायुष्मता। (वही, पृष्ट १२७)

यह स्वत: सिद्ध है कि विश्वेश्वर साधारणीकरण का उल्लेख नहीं करते, किन्तु उपर्युक्त दृष्टि से और रसबोध की सामाजिकनिष्ठ व्याख्या की दृष्टि से भी वे ऐसे कतिपय सूत्रों की अवतारणा करते है, जिनमें साधारणीकरण के मूल तत्त्व निहित हैं। अभिनव के समान वे भी रसबोध के लिए विशिष्ट संवेदनशील आन्तर-प्रतिभा की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।[1] रस-प्रतीति तर्क-ज्ञान की कर्कश वागाडम्बरयुक्त भूमि से एकान्त भिन्न संवेदना की भूमि है।[2] किन्तु विश्वेश्वर रस की सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, ऐतिह्य, संभव एवं अभाव प्रमाणों का आधार ग्रहण करना भी आवश्यक मानते हैं। इस संदर्भ में वे कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत देते हैं यथा—रस निर्विकल्पक बोध नहीं है, क्योंकि यह भावविशेष की अनुसंधानात्मक प्रतीति है। प्रकारान्तर से यह तथ्य कि रसबोध मूलत: निर्विशिष्ट नहीं होता[3] आधुनिक चिन्तन का तलस्पर्शी है। प्राचीनों ने स्वशब्दवाच्यत्व के निषेध के रूप में इसका आख्यान किया है। किन्तु अभिव्यंजनावाद में इसका अधिक सबल आधार पर पुनराख्यान किया गया है। आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं; यह बात आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है···काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब या मूर्त्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं, बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।[4] वस्तुतः विश्वेश्वर की अवधारणा भाव की उसके प्रकृत रूप में प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है, आस्वाद की भूमिका से नहीं। विभाव तो काव्य में विशेष रूप में ही उपस्थित होते हैं, काव्यानुभूति के क्षण में वे निर्विशिष्ट होते हैं। विशेष एवं

---

१. वासना प्रौढपरिपाकभावनाविशेषसहकारिणां सहृदयानां मानसे गोचरीकृता। (वही, पृ० १२७)

२. अस्यापि पुनरियं वागाडम्बरदिडम्बनाविविधचर्चाकण्डूलधिषणा प्रकाण्डानां वादिनां मुदे विलिख्यते। (वही, पृ० १२८)

३. नाद्य: वस्तुस्वरूपमात्रावभासकस्वभावत्वान्निर्विकल्पकस्य रसस्य भुवि भावादिविशेषानुसंधानपूर्वकप्रतीतिस्वभावत्वात्। (पृ० १२८)
निर्विशिष्टविषयोल्लेखिनो ज्ञानस्यैवासंभवात् (वही)

४. चिन्तामणि भाग-१ पृ० २२८

निर्विशेष का द्वन्द्व साधारणीकरण का महत्त्वपूर्ण पक्ष है और विश्वेश्वर ने विषय वस्तु की दृष्टि से इस ओर सजग संकेत किया है।

रस की अनुमान-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए विश्वेश्वर कहते हैं कि यथार्थ के चरम साक्षात्कार की प्रतिक्रियाएँ विशिष्ट ही होती हैं और इस दृष्टि से तत्त्व का साक्षात् करने वाला ही रस का अधिकारी होता है। **'अमी सामाजिका रसानुभववन्तः ये ये विवक्षितचेष्टाविशिष्टाः तस्माद्रसानुभववन्त एवेति। यथा तत्त्वसाक्षात्कारानुभवितारः तथा चेमे चेष्टाविशिष्टा तस्माद्रसानुभववन्त एवेति।**[1]

विश्वेश्वर का सबसे उल्लेखनीय योगदान 'रसो वै सः, की संभवतः काव्यानुभूति के क्षेत्र में सर्वप्रथम अवतारणा से सम्बद्ध है। पंडितराज जगन्नाथ की **रसो वै सः** की श्रुतिसम्मत व्याख्या मूलतः विश्वेश्वर की ही उपजीवी है।

स वै रस इति श्रुत्या ब्रह्मणस्समकक्षया।
प्रोक्तो रसः स्वयं भाग्यात् कैश्चिदेवानुभूयते ॥[2]

विश्वेश्वर मूलतः अभिनव की परंपरा के ही व्याख्याकार हैं, किन्तु रसानुभूति के पक्ष को सविकल्पक ज्ञान तथा वैशिष्ट्यमूलक अर्थबोध से सम्बद्ध कर वे रसानुभूति की लोकोत्तर आदर्श संकल्पना को यथार्थ का आधार देते हैं।

श्रीवत्सलांछनभट्टाचार्यविरचिता काव्यपरीक्षा (स्थिति काल १३२३ से १३८० के मध्य)

श्रीवत्सलांछन ने रस-निष्पत्ति तथा साधारणीकरण की प्रक्रिया का विवेचन नव्य वेदान्त की शैली में किया है। पंडितराज जगन्नाथ का चिन्तन श्रीवत्सलांछन के चिन्तन का ही विकास प्रतीत होता है। काव्य में स्थायी भाव विभावादि से अभिव्यंजित होते हैं। यह प्रक्रिया चैतन्य के आनन्दांश के आवरणभंग की वेदान्तसम्मत प्रक्रिया के समानान्तर है।[3]

---

१. चमत्कारचन्द्रिका पृ० १२८

२. वही, पृ० १०७

३. काव्ये हि विभावादिभिरभिव्यज्यते स्थायी, तस्यां चाभिव्यक्तावन्तः करणवृत्ति रूपायां चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मापि भासते, वेदान्तिनये सर्व-

अन्तःकरण वृत्ति के रूप में स्थायी चैतन्यानन्दस्वरूप प्रकाशित होता है। किन्तु वह प्रकाश अनात्मसामग्री के कारण आवृत रहता है। काव्यदर्शन-श्रवण की महिमा से वह आवरण भंग हो जाता है 'तथा च रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमानन्दांशे भग्नावरणतया आनन्दरूपतया प्रकाशमानं रस इति पर्यवसितार्थः।[1] रस-चर्वणा आनन्दांश की अभिव्यक्ति ही है, जो मूलतः काव्यार्थ के ज्ञान का पर्याय है। इस संदर्भ में श्रीवत्सलांछन ने जिस साधारणीकरण-प्रक्रिया का विवेचन किया है, वह अंशतः अभिनवगुप्त की अवधारणा की उपजीवी हैं।[2] सामाजिकों की वासना रूप में स्थित रत्यादिक स्थायिभाव निर्विशेष विभावादि से व्यंजित होते है। यह व्यंजना उन भावों के पुनः पुनः अनुसंधान का परिणाम है। इस प्रक्रिया में एक स्तर पर विभावादि वैशिट्य से मुक्त होते हैं तो दूसरे स्तर पर प्रमाता संबंधों के वैशिष्ट्य से मुक्त होकर उन विभावों को साधारण्य की भूमिका में ग्रहण करते हैं। यह प्रक्रिया विभावादि के पौनःपुन्य की प्रक्रिया है। पुनः पुनः भावनात्मक अनुसंधान के द्वारा रामादि से अभेद तादात्म्य स्थापित कर प्रमाता तन्मयीभवन की भूमिका में पहुँच जाता है।[3]

अमृतानन्दयोगी (१४वीं शती ई० अन्तिम चरण) अलंकार-संग्रहः

अमृतानन्दयोगी ने अलंकार-संग्रह के तृतीय परिच्छेद में रस, रसभेद रसोत्पत्ति इत्यादि का विवेचन किया है। उनकी आस्था अभिव्यक्तिवाद में प्रतीत होती है। **ज्ञायमानैर्विभावाद्यैर्व्यक्तः स्थायी रसः स्मृतः।**[4] से स्पष्ट

स्मिन्नेव ज्ञाने आत्मभाननैयत्यात् (काव्यपरीक्षा, मिथिला विद्यापीठ-१९५६ ई०, पृ० १५)

१. वही, पृ० वही

२. परिहृतविशेषैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैव तेन शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धिविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायात्-साधारण्येन······ (वही, पृ० १६)

३. काव्यनाट्यश्रवणदर्शनमहिम्ना रत्यादिभावानां सामाजिकस्य वर्णनीयेन सह तन्मयीभावसंपादकत्वाच्च रामादिभेदाग्रहे सति साधारण्येन प्रतीतिर्जायते। (वही, पृ १६)

४. अ० सं० ३/२ पृष्ठ १०

है कि रस को वे सामाजिकनिष्ठ मानते हैं। रसोत्पत्ति के दो ध्रुव हैं—एक विभावादि तथा दूसरा सामाजिक। किन्तु रसोत्पत्ति में सहायक काव्यात्मक विभाव ही होते हैं। श्रव्य अथवा दृश्य संदर्भों में परिवर्तित होकर वे लौकिक कारणों की संज्ञा से मुक्त हो जाते हैं।

श्रूयमाणैर्विभावाद्यैः काव्येषु रससंभवः।
दृश्यमानैः सदस्यानां नाटकेषु रसादयः॥[1]

रस के वे दो भेद मानते हैं। लौकिक अनुभूति को भी वे रस स्वीकार करते हैं तथा उसे स्वाभाविक रस की संज्ञा देते हैं। सामाजिकस्थ रस स्वभाव रस हैं। लौकिक अनुभूति तथा काव्यानुभूति (स्वभाव रस) के तात्त्विक संबंध का विवेचन उन्होंने नहीं किया है, किन्तु श्रूयमाणता, दृश्यमानता तथा नटों में रस भावादि के आरोप के उल्लेख से यह ज्ञात होता हैं कि **'दोषाभाव गुणालंकारलक्षणे तथा नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण'** के द्वारा स्वगत परगत प्रतीति से मुक्त होकर काव्यानुभूति किस प्रकार प्रमाता तक संक्रमित होती है, इसकी अभिज्ञता उनको है। रस की प्रमातृसापेक्षता के प्रति वे सतर्क हैं।

(क) **विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।**
श्रोतृणां प्रेक्षकाणां च ते सर्वे रसपोषकाः॥[2]

(ख) **उत्पन्नो यै रसो भावैर्भावुकैरनुभूयते।**[3]

साधारणीकरण के संबंध में इससे अधिक सूत्र उनके रस-चिंतन में अनुपलब्ध हैं। अलंकार प्रकरण में प्रमाणालंकार के अन्तर्गत निर्विकल्पक अलंकार का स्वरूप वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

नामादिभिर्विशिष्टार्थविषयं प्रत्यक्षं सविकल्पकम्।
अविशिष्टार्थविषयं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्॥
इन्द्रियोत्पन्नविज्ञानं प्रत्यक्षालंकृतिर्यथा।[4]

कहने की आवश्यकता नहीं अभिव्यंजना की भूमि पर अविशिष्टार्थविषयता भी उनकी दृष्टि में चमत्काराधायक है, किन्तु आत्मविश्रान्ति के

१. अ० सं० ६/६ पृष्ठ १०

२. अ० सं० पृष्ठ ११

३. अ० सं० पंचम परिच्छेदः पृष्ठ ५८

काव्यपरक वर्णन मात्र तक ही इसकी इयत्ता है। बाह्य विषयों से उपरत हो कर प्रमाता का मन काव्य-विषय में कैसे निमग्न होता है, यह उनका विवेच्य नहीं है। उदाहरणार्थ—

क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्विकारमधुनीन्द्रियवर्गः॥[1]

यह एक विशिष्ट अभिव्यंजनात्मक स्थिति है। काव्यास्वाद की निवृत्ति-परक भूमिका नहीं है। अतः **'निर्वृतिर्मनसो वृत्तिरिन्द्रियैरुपनीयते'**[2] में निवृत्ति की भूमिका अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य तक ही सीमित है। काव्य का सारभूत प्रभाव प्रमाता को निर्विकारमधुनीन्द्रियवर्ग की भूमिका में कैसे प्रतिष्ठित करता है, यह उनका प्रतिपाद्य नहीं है।

गंगानन्द कविराज (१६वीं शती) कर्णभूषणम् (रचनाकाल १५०६-१५२७ के मध्य)

गंगानन्द कविराज ने कर्णभूषण में रसनिष्पत्ति के प्रसंग में साधारणी-करण का जो विवेचन किया है, वह मूलतः अभिनव तथा विश्वनाथ का उपजीवी है। किन्तु साधारण्य अथवा साधारणीकरण के प्रति उनकी आस्था इतनी प्रबल है कि रस के लक्षण में भी उन्होंने साधारण्य का समावेश कर दिया है।

साधारण्याद्विभावाद्यैः प्रतीतैः सभ्यचेतसि।
अभिव्यक्तो दधिन्यायात्स्थायी रत्यादिको रसः॥[3]

दुग्ध जिस प्रकार अम्ल के संयोग से दधि संज्ञा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार साधारण्य रूप में प्रतीयमान विभावादि के संयोग से रति इत्यादि स्थायी रस पद से अभिहित होता है। गंगानन्द ने इस संदर्भ में एक विशेष बात यह कही है कि विभावादि की अज्ञान दशा में सौक्ष्म्य का तिरोभाव हो जाता है।[4] उनके इस कथन का यह आशय प्रतीत होता है कि विभाव-योजना

---

१. वही पृ० वही
२. वही ५/५७ पृ० ५८
३. कर्णभूषणम् ५/१२ पृ० ४८
४. विभावादिज्ञानदशायां रत्यादेः स्थौल्यमाविर्भावो रसपदव्यवहार्यत्वात्।
विभावाद्यज्ञानदशायां सौक्ष्म्यं तिरोभावः॥
(कर्णभूषणम्, पृ० वही)

में कवि का सूक्ष्म तत्त्व बिम्बात्मक रूप में आविर्भूत होता है। किन्तु आस्वाद दशा में उस विशेष बिम्ब (सीतादि) में निहित कान्तात्वादि का सौक्ष्म्यभाव उभर आता है एवं विभाव मदीय, परकीय, तटस्थीय सम्बन्धों के स्वीकार से मुक्त होकर साधारणीकृत हो जाते हैं।[1] गंगानन्द के अनुसार स्थायी-संज्ञा के मूल में ही साधारणीकरण का भाव निहित है, क्योंकि स्थायी के अभिव्यक्त होते ही विभावादि की नियतसम्बन्धवर्तिता समाप्त हो जाती है (नियतसम्बन्धापरिचयात् साधारण्यम्)।[2]

पानके तु मरीचादेर्न विशिष्य ग्रहो भवेत्।
तथैवात्र विभावादेर्न विशिष्य ग्रहक्रमः॥[3]

गंगानन्द ने रस के स्वरूप एवं प्रभाव का व्यापक विवेचन मूलतः उसके वैशिष्ट्य एवं साधारणीकृत-रूप की द्वन्द्वात्मक चेतना के स्तर पर किया है। रस की निर्विकल्प सत्ता इस कारण ग्राह्य नहीं है कि विभावों की मूल चेतना विशिष्ट है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि रस न एकान्त नटगत है न अनुकार्यगत ही। अपितु काव्य तथा नाटक में भावगत व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है तथा सामाजिक साधारणीकृत स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं।[4] निश्चय ही भट्टनायक का मत परम्परित कारणों से गंगानन्द को भी स्वीकार्य नहीं है। उनका कथन है कि यदि विभावों में से एक भी असाधारण है तो दूसरे विभाव के असाधारण होने के कारण रसबोध अनवद्य नहीं हो सकेगा। अतः विभावादि का साधारणीकरण अलौकिक स्थिति में ही ग्राह्य है, जिसमें साधारण असाधारण का भेद समाप्त हो जाता है।

असाधारण एकोऽपि विभावादिर्भवेद्यदि।
रसस्तदा न चाक्षेपः कष्टकल्पनदोषतः॥

---

१. कर्णभूषणम्, पृ० वही।

२. कर्णभूषणम्, पृ० वही।

३. कर्णभूषणम्, ५/८, पृ० ४६

४. व्यापारेण विभावादिसाधारण्यं प्रकुर्वताम्।
साधारणीकृतः स्थायिभावः सामाजिकात्मनि॥
(वही, पृ० ५०)

साधारणो विभावादिर्यत्रैको द्वितयोऽथ वा ।
संनिबद्धो भवेत्तत्र विरोधान्न रसस्थितिः ।।[1]

गंगानन्द की दृष्टि वस्तुनिष्ठ अथवा लोकोन्मुखी नहीं है, उनकी रस-चेतना एकान्त परम्परानिष्ठ, आदर्शपरक एवं आत्मनिष्ठ है ।

स्वगोचरीकृतो ब्रह्मास्वादसौख्यसहोदरः ।
अलौकिकचमत्कारः स्वप्रकाशसुखात्मकः ।।[2]

जैसी पदावली अनिवार्यतः रस को आत्म-विश्रान्तिमयी ब्रह्मचेतना के स्तर पर ही ग्रहण कर सकती है ।

विभावादि मूलतः असाधारण होते हैं, किन्तु काव्य तथा अभिनय के माध्यम से वे साधारणीकृत होते हैं ।[3] साधारणीकरण के द्वारा माधवादि असाधारण पात्र निर्विशेषीकृत होते हैं तथा सर्वसाधारण के द्वारा हृदयंगम किये जाते हैं । विभाव तथा प्रमाता दोनों की परिमितता विगलित हो जाती है ।[4]

स्पष्टतः गंगानन्द स्थायी भावों का साधारणीकरण मानते हैं, जो अभिनव तथा विश्वनाथ का मूल अभिमत है । **'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ।'** यह स्थायी भाव का विनिर्मुक्तीकरण है, जिसमें स्व-पर की चेतना निःशेष हो जाती है तथा विभावादि के स्थौल्य का सूक्ष्मीकरण हो जाता है । इस प्रकार गंगानन्द का साधारणीकरण परिमित नहीं व्यापक है । विभावादि ही देशकाल की परिमितता से मुक्त नहीं होते, प्रमाता के स्थायी भाव की भी स्व-पर की चेतना अथवा सम्बन्धों के परिच्छेद अथवा स्वीकार-परिहार की भावना समाप्त हो जाती है ।

रत्यादिना विभावादिसाधारण्यधियः क्षणे ।
सभ्यमात्रात्मनिष्ठत्वाभावात्सारणेन च ।।[5]

१, २. कर्णभूषणम्, पृ ५०

३. काव्याभिनयरूपाणामुपायानां स्वभावतः ।
साधारण्यं विभावादेरसाधाराणतावतः ।।
साधारण्ये त्वनुभवः प्रमाणं सभ्यचेतसि ।
(कर्णभूषणम्, ५/४-५, पृ० ४८)

४. माधवादिगता एवासाधारणा अमी कारणादयः सभ्येन सकलसाधारण्येन प्रतीयन्ते (कर्णभूषणम्, पृ० ४९)

५. वही, ५/६, पृ० ४९

कहने की आवश्यकता नहीं कि गंगानन्द का विवेचन परम्परानिष्ठ होते हुए भी रस-निष्पत्ति में साधारणीकरण के व्यापक महत्त्व की स्वीकृति के स्तर पर अपनी विशिष्टता रखता हैं।

मधुसूदन सरस्वती (सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध)
श्रीभगवद्भक्तिरसायन

भक्ति के परिप्रेक्ष्य में रसानुभूति का विवेचन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में एक मौलिक संकेत किया है। भगवद्विषया रति यद्यपि मूलतः ज्ञान से पूर्वकालिक रागात्मक चेतना है, तथापि अपने मौलिक रूप में वह प्रपाणकरस-न्याय पर आधारित परविलक्षण अनुभूति है।[1] इसमें हर्ष, काम सम्बन्ध, और भयजन्य रतियों की मिश्रित अनुभूति से एक विलक्षण रस अनुभव होता है। यह अनुभूति भिन्न-भिन्न रतियों की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति से भिन्न विलक्षण अनुभूति इस अर्थ में होती है कि कि इनमें से किसी भी एक अनुभूति केन्द्र से युक्त होकर प्रमाता शेष अनुभूतियों से तादात्म्य करता है। मधुसूदन सरस्वती लौकिक तथा अलौकिक अनुभूतियों में इस अर्थ में भेद स्वीकार करते हैं[2] कि काव्य के अर्थ में रहने वाले रत्यादि स्थायिभाव लौकिक हैं, किन्तु सामाजिक की चित्तवृत्ति में स्थित स्थायिभाव में संक्रान्त होकर ये लौकिक भाव अलौकिक हो जाते हैं और इस प्रकार लौकिक स्तर पर इनकी दुःखात्मकता भी सुखात्मकता में परिणत हो जाती है। कहने का आशय यह है कि रस मूलतः प्रमाता मात्र को आत्मा का प्रतिबिम्ब होने के कारण सुख-मूलक ही है। रसानुभूति के क्षण में सामाजिकनिष्ठ स्थायिभाव उद्बुद्ध होता है, फलतः उसकी मौलिक आनन्दात्मकता में संवलित होकर विभावानुभाव व्यभिचारी जैसी जडात्मक अनुभूतियाँ भी अलौकिक, आनन्दमयी अनुभूति में पर्यवसित हो जाती है। इस संयोग

---

१. एकदैव यदि व्यक्तमिदं रतिचतुष्टयम्।
तदा तु पानकरसन्यायेन परमो रसः॥
(भ० र० २/६६ पृ० १६६ (वाराणसी-२०३३ सं०)

२. काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्या स्थायिनः सन्ति लौकिकाः।
तद्बोद्धृनिष्ठास्त्वपरं तत्समा अप्यलौकिकाः॥
(वही, ३१४, पृ० १७३)

में एक स्तर पर स्व-संबंध और परसंबंध का ज्ञान बना रहता है, किन्तु दूसरे स्तर पर ये परस्पर अभिन्न रूप से संश्लिष्ट होकर वैशिष्ट्य से मुक्त साधारणीकृत होती है।[1] इस अनुभूति में सामान्यतया और अलौकिकता की विलक्षण अनूभूति होती है। कहने का आशय यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का स्वपर-सम्बन्ध विलुप्त हो कर साधारणात्मा रति में पर्यवसित हो जाता है। यह समूहालम्बनात्मक अनुभूति का अनिवार्य परिणाम है, जो मूलतः सुखात्मक है।

आचार्य विश्वनाथ देव (१६वीं शती का अन्तिम भाग) साहित्य-सुधा-सिन्धु (१५५२ ई० के लगभग)

आचार्य विश्वनाथ देव की साधारणीकरण के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट स्थापना नहीं है। साधारणीकरण की मूल समस्या वे भट्टनायक के कोण से ही उठाते है, अर्थात् सीतादि पात्र प्रमाता को रामादि के संबंध से ही परिज्ञात होते हैं, फिर सीतादि विभावों से उद्भूत रस का उन विभावों से असम्बद्ध सामाजिकों से क्या सम्बन्ध हो सकता है? इसका उत्तर है, विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। **'विभावादीनाम् साधारण्यमत्रापेक्षितम्'**[2] आचार्य विश्वनाथ देव के अनुसार विशेष संबंध से ज्ञायमान सीतादि विभावों का विशेष सम्बंधी के रूप में ज्ञान न होने पर उनका सामान्य रूप से परिज्ञान होना ही साधारणीकरण है। **'साधारण्यं च यत्किंचित्सम्बन्धविशेषसम्बन्धित्वेनाज्ञायमानत्वे सति ज्ञायमानत्वम्'**[3] आशय यह है कि सीता में सीतात्व का परिज्ञान सम्बन्धविशेष की चेतना को उद्बुद्ध करता है, किन्तु विभावन व्यापार के द्वारा सीतात्वादि रूप के विशेषांश का परित्याग होने से स्त्रीत्वादि के रूप में उनकी प्रतीति होती है।[4]

---

१. ज्ञातस्वपरसंबन्धादन्ये साधारणात्मना।
अलौकिकं बोधयन्ति भावं भावास्त्रयोऽप्यमी॥
(वही, ३/११, पृ० १७५)

२. सा० सु० सि० (दिल्ली-१९७९) पृ० ९२

३. वही

४. न च सीतात्वादिज्ञाने कथामेतादृशं साधारण्यमिति वाच्यं, तदा विभावादि व्यापारमहिम्ना सीतात्वादिपरिहारेण स्त्रीत्वादिनेव ज्ञानात्।
(सा० सु० सि० पृ० ९३)

स्पष्टत: यह भट्टनायक की गोविन्द ठक्कुर कृत व्याख्या की उपजीवी अवधारणा है। गोविन्द ठक्कुर के समान विश्वनाथ देव का भी कथन है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव मूलतः लौकिक कारणों के विशेषांश मुक्त स्वरूप का ही साधारणीकृत रूपायन है। 'अत एवोक्तमेते एव परिहृतविशेषा रसहेतवे' उनका साधारणीकरण सम्बन्धी अन्य विवेच्य अंश इस प्रकार है **'अत्रेदं बोध्यं वासनाविशेषवतां सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिकभावः पौनःपुन्येन रत्यादिभिः समं गृहीतकार्यकारणभावसम्बन्धैः विभावादिभिः परिहृतविशेषैः सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहार नियमानाध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैः नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारण्योपायबलात् साधारण्यमुपगच्छन् चिदात्मना सहाभिव्यक्तः तत्कालोल्लसच्चर्व्यमाणतैकप्रमाणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुरः इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मानन्दसहोदरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।**[1]

स्पष्टतः (१) परिहृतविशेषैः, (२) चिदात्मना सहाभिव्यक्तः, में क्रमशः भट्टनायक तथा पंडितराज जगन्नाथ की अवधारणा का भी अध्याहार हो जाता है। समग्रतः उनके विवेच्य विन्दु इस प्रकार हैं—(१) प्रमाता की नियत व्यक्ति संसर्ग से मुक्ति की चेतना, (२) विभावों की सम्बन्धों के स्वीकार-परिहार से मुक्ति, (३) मानससाक्षात्कारात्मिका प्रतीति, (४) स्थायी का देशकालातीत साधारणीकरण (अभिनव), (५) विभावादि की वैशिष्ट्य-मुक्ति (भट्टनायक), (६) चेतन आत्मा की अभिव्यक्ति (जगन्नाथ)। इन सूत्रों में रत्यादि भाव के साधारण्य सम्बन्ध में उन्होंने अभिनव का व्याप्ति-सम्बन्ध मूलक, जो उदाहरण लिया है, वह अभिनव की अपेक्षा शंकुक के मत के निकट है। 'अत एव धूमादितो वह्न्यादिज्ञानवत् विभावादितो रत्याद्यभिव्यक्तिः।[2] स्पष्ट है कि वे विभावादि को जो रत्यादि के ज्ञान को प्रमाता में संक्रमित करते हैं, अनुमान कोटि में रखते हैं, जबकि अभिनव का आशय यह है कि जैसे धूम एवं अग्नि का व्याप्ति ग्रहण परमित न होकर व्यापक होता है, वैसे विभावादि का साधारणीकरण निश्चित सीमा में ही परमित नहीं होता। **तत एव न परिमितमेव साधारण्यम् अपितु**

---

१. साहित्यसिन्धु पृ० ९८

२. वही, वही

विततम् व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः ।[1]

उक्त मतों के अतिरिक्त विश्वनाथ देव ने भोज तथा विश्वनाथ के अभिमतों का भी अध्याहार किया है। भोज के अनुसरण में वे अहन्ता के विस्तार तथा तादात्म्य को साधारणीकरण की भूमिका में स्वीकार करते है।

आशय यह है कि आचार्य विश्वनाथ देव के रस चिन्तन में अभिनव, भट्टनायक, मम्मट, भोज, विश्वनाथ एव पंडितराज जगन्नाथ आदि के रस-चिन्तन की स्पष्ट ऊष्मा है, किन्तु उसमें पिघल कर उनका निजी चिन्तन भी अंशतः मौलिक अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। भट्टनायक के सामान उनका अभिमत है कि सीता एवं रामादि आराध्य पात्र सामाजिक के प्रत्यक्ष उद्बोधक कारण नही बन सकते, किन्तु विभाव, अनुभाव एवं संचारण नामक तीन व्यापारों के द्वारा ये ही पात्र रत्यादि के उद्बोधक कारण बन जाते हैं।[2] इस बोध के क्षण में प्रमाता के विषयान्तर-बोध की समाप्ति हो जाती है। सिद्धान्त रूप में इन दोनों संदर्भों में क्रमशः भट्टनायक एवं अभिनव के अभिमतों को खण्ड-खण्ड करके देखना असंभव नहीं है, किन्तु विश्वनाथ देव की विशिष्टता यह है कि वे इन व्यापारों के साथ प्रमाता की बोध प्रक्रिया को एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं। उनके अनुसार इन व्यापारों के द्वारा सामाजिक के हृदय में ईषत् प्रकाश, पुनः स्फुटतर, तदनन्तर स्फुटतम प्रकाश का आविर्भाव होता है।[3]

इस अभिमत में निहित इस तथ्य को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रमाता की चेतना में काव्यार्थ-बोध की प्रक्रिया क्रमशः गतिशील होती है।[4] प्रत्येक नये क्षण में विभावों के स्वरूप का एक नूतन कोण

---

१. नाट्यशास्त्रम् पृ० २७६

२. (क) सामाजिकनिष्ठरत्यादीनामाराध्यत्वेन ज्ञाताः सीतादयो न कारणं येन तथा स्युः। (सा० सि० पृ० ८८)

(ख) तेषां च विभावानुभावनसंचारणाख्यव्यापारत्रयवत्त्वात्तथाविधाः संज्ञा, तेषां च व्यापाराणाम् (वही, पृ० ८६)

३. तेषां च व्यापाराणां यथाक्रमं रत्यादेरीषत्प्रकाशः स्फुटतरः स्फुटतमश्च। (वही, पृ० ८६)

४. Cf......move into the field of spectator's consciousness. (Dark Comedy P. 252)

उद्घाटित होता है, जो विगत अनुभूत अंश को फिर से एक नये स्तर पर परिभाषित करता है।

श्री कामराज दीक्षित काव्येन्दुप्रकाश (१६६०-१७१० ई० के मध्य)

काव्येन्दुप्रकाशकार ने रूपक की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—**'रूप्यते इत्यस्य विज्ञेयोऽर्थः विलोक्यते।'**[1] रूपक की इस व्युत्पत्ति में काव्यार्थ के प्रेक्षक द्वारा चाक्षुष दृश्यात्मक अनुभव का अनुषंग निहित है। रूपक के अन्तश्चैतन्य में कवि प्रेक्षक के समीकरण की यह उद्भावना साधारणीकरण के मौलिक संदर्भ की ओर इंगित करती है—**'रूप्यते नाम कविभिर्निरूप्यते सभ्यैर्वाभिन्नरूप्यते'**[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनव ने कवि-सहृदय के इसी समीकरण को केन्द्र में रख कर साधारणीकरण की उद्भावना की है। **'सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृयाख्यं विजयते।'**[3]

भरत ने नाटक को **'सर्ववृत्तिनिष्पनं नानाबन्धसमाश्रय'** कह कर वृत्ति में सार्वभौमीकरण तथा साधारणीकरण की संभावनाएँ व्यक्त की हैं। काव्येन्दु-प्रकाशकार भी वृत्ति के माध्यम में ही रस-परिकर में प्रवेश करते हैं। **विभावादिज्ञानेन रसोत्पत्तावपि नाटकादिवर्ण्यस्य रसस्य विना वृत्तिमसंभवः।** वृत्तियों के संदर्भ में डा० सुरेन्द्र बारलिंगे का कथन है 'नाटक अथवा अनुकरणः इन सभी वृत्तियों और प्रवृत्तियों का प्रदर्शन मात्र नहीं होता, वरन् इसमें इनका संगठन या चुनाव किया जाता है। इनके व्यवहार-पक्ष का वर्गीकरण करते हुए तथा इतर प्रान्तीय भेदों को बताते हुए भरत ने कहा है कि एक ही वस्तु विभिन्न मार्गों में प्रदर्शित की जा सकती है। वृत्ति और प्रवृत्तियों से सम्बद्ध समस्याएँ एक जैसी ही है। हम व्यक्तिगत भिन्नताओं को त्याग सकते हैं और उनके सार्वत्रिक रूप को ग्रहण कर सकते हैं। यही अभिनव-गुप्त का साधारणीकरण है।[4] इस अवधारणा पर हमने अन्यत्र विचार किया है।

---

१. काव्येन्दुप्रकाश पंचदशकोल्लास, पृ० ११

२. वही वही पृ० ११

३. ध्वन्यालोकः (लोचनव्याख्योपेतः संपादक—जगन्नाथ पाठक) पृ० १

४. सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त पृ० १२३

विद्याधर (१४वीं शती पूर्वार्द्ध) एकावली

काव्य की सर्जनात्मक चेतना व्यंजना के द्वारा जिस ध्वन्यर्थ में परिणत होती है[1] वह मूलतः विभावों का अनुसंधान या अन्तर्भावन है[2] जो संज्ञानात्मक अनुभूति से भिन्न एक भावात्मक प्रतिक्रिया है। प्रमाता के स्तर पर यह व्यक्ति-संसर्ग एवं देशकाल की विशिष्ट चेतना से मुक्त साधारणीकृत अनुभूति है।[3] एकावलीकार का विवेचन ध्वनन एवं अनुसंधान के इन्हीं प्रतिमानों को केन्द्र में रख कर चला है। वे साधारणीकरण का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं करते किन्तु उन तथ्यों को अवश्य रेखांकित करते हैं जो इस संदर्भ में प्रासंगिक हैं। उनकी कृति का स्थापत्य काव्य-प्रकाश का ऋणी है तथा उनकी अवधारणा आनन्दवर्द्धन एवं मम्मट की चिन्तन-प्रणाली के अन्दर से विकसित हुई है। किन्तु अभिव्यंजना को केन्द्र में रखकर वे अपने विवेचन को अपेक्षाकृत आधुनिक आयाम देते हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह कि 'रस', 'शृङ्गार' आदि शब्दों के निरावृत प्रयोग से रसानुभूति सहृदय में संक्रान्त नहीं होती।[4] विभावादि की बिम्बात्मक अन्तःयोजना[5] लौकिक अनुभूति को स्वतः लोकोन्तर संदर्भ देती है। कार्य-कारण से नियंत्रित लौकिक प्रत्यक्षानुभूति को भेद कर जब प्रमाता उसमें निहित निःसीम भाव-सत्य का अनुसंधान करता है तो वह अनुभूति समस्त सहृदयों से हृदय-संवाद स्थापित करती है।[6] यह स्थिति व्यंजना को रसमूल्य के स्तर पर प्रतिष्ठित करती है[7] जो तात्पर्य, अनुमान

---

१. ध्वननाभिधानाभिनवव्यापारपरिरंभनिर्भरतया
(एकावली (१६८१) पृ० ८२)

२. विभावाद्यनुसन्धानेनैवास्य सत्तासाधनसमर्थत्वात्। पृ० ८६

३. विभावादिभिः स्वपरोदासीन सम्बन्ध परिहारेण साधारणतयानुसंधीयमानः
(तरल, पृ० ८२)

४. रसादिशब्दाप्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्य प्रतीतिपथानधिरोहात्।
(पृ० ८४)

५. काव्यार्थानुसंधानसमनन्तरभाविनी। (तरल०, पृ० ८५)

६. लोकोत्तरचमत्कारकारितया सकलसहृदयहृदयसंवेदनसाक्षिकेयम्।
(तरल०, पृ० ८४)

७. काव्यार्थानुसंधानचतुरचेतसां व्यंजनाव्यापारसहकृतान्तःकरणवृत्ति निरस्ता-

स्मरण की आत्मपरकता से आगे बढ़कर काव्यार्थ को समष्टिचेतना के स्तर पर अन्तर्भावित करती है। अनुमान जहाँ व्याप्ति-सम्बन्ध पर आधृत अन्यगत अनुभूति है, अथवा स्मरण, प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सन्निकर्ष पर आधृत एवं व्यक्ति-संस्कार-प्रेरित अनुभव है[1] वहाँ रसानुभूति विशिष्टार्थ का अनुसंधान है। यह व्यंजना की अन्तःक्रिया है। ध्वनन व्यापार से जब काव्य-निबद्ध भावों का अन्तर्भावन होता है तो करुणादि दुःखात्मक भाव भी आनन्दानुभूति में परिणत हो जाते हैं[2] तथा इतर विजातीय संवेदनाओं के नियंत्रित हो जाने विशिष्ट अनुभूति साधारणीकृत हो जाती है। अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता की चेतना से मुक्त यह धारावाही अनुभूति[3] ही प्रमाता के स्तर पर आत्मानुभूति है।

विद्याभूषण (१८वीं शती ई०) साहित्यकौमुदी (रचनाकाल १७६० ई०)

साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण का रसचिन्तन एवं प्रयुक्त शब्दावली मूलतः मम्मट की उपजीवी है, जिसके मूल में अभिनव की प्रेरणा असंदिग्ध है। विद्याभूषण के अनुसार स्थायी सामाजिक की वासना में संस्थित होता है तथा साधारण्य रूप से प्रतीत विभावादि व्यापारों से (जो लौकिक कारणों के ही अलौकिक रूप है) अभिव्यंजित होता है।[4] स्पष्टतः साधारणीकरण यहाँ परिणाम रूप नहीं, अवान्तर व्यापार है, जिस पर भट्टनायक के विभावादि साधारणीकरणात्मा का प्रभाव है। अभिनव विभावन-व्यापार को साधारणीकरण से अभिन्न नहीं अपितु साधारणीकरण की सिद्धि का अंग मानते हैं—**'साधारणीभावना च विभावादिभिरिति।'** विद्याभूषण का शेष विवेचन अभिनव का उपजीवी हैं, जिसमें रस को सर्वहृत्संवादी, आस्वादात्मा तथा **'विभावादि-जीवितावधि'** कहा गया है।

वरणतया विगलितवेद्यान्तरः स्वयमेव भासते।

(तरल, पृ० ८४)

१. एकावली, पृ० ८७

२. वही, पृ० ६२

३. धारावाहिनि ध्यानसंताने। (पृ० ८४)

४. स च स्थायी साधारण्येन प्रतीतैस्तैरभिव्यञ्जितः सभ्यानां वासनात्मना संस्थितः (सा० कौ० पृ० २६)

'तेनैव सर्वहृत्संवादी चर्वणैकप्राणो विभावादिपरामर्शावधि-जीवितो बहिरन्तश्च परिस्फुरन्सर्वाङ्गमिवालिङ्गन्नानन्दसिन्धुमिवावगाहयन् विगलितवेद्यान्तरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः स्मर्यते ।'[1]

तेनैव से आशय साधारण्येनैव है अर्थात् विगलितवेद्यान्तरता आदि साधारण्य का स्वरूप नहीं, उसका व्यापार है । उक्त पदावली पर काव्यप्रकाश की छाया अत्यन्त स्पष्ट है । इस प्रकार मौलिक सिद्धान्त की दृष्टि से विद्याभूषण की अवधारणा का इतना मूल्य नहीं है, जितना इस दृष्टि से कि वे भी साधारणीकरण को रस की ब्रह्मास्वादसन्निभ, विगलित वेद्यान्तरता की लोकोत्तर भूमि पर ही व्याख्यायित करने में आस्था रखते हैं । वे लोल्लट अथवा विद्यानाथ की भाँति रस को अनुकार्यनिष्ठ नहीं मानते । अनुकार्य परिमित हैं और उन से भय आदि की लौकिक अनुभूति ही हो सकती है । रस अभिनेता में भी नहीं है, अपितु उसके नैपुण्य से रस को अलौकिकता प्राप्त होती है । रस की स्थिति सामाजिक में ही है—

'स च रसो नानुकार्यादौ लौकिकत्वात् पारिमित्याद् भयादिसद्भावाच्च । न चानुकर्त्रादौ जीविकामर्थनुवृत्त्यादौ प्रवृत्तेः । किंतु सभ्येष्वेव सवासनेषु तत्तन्निबन्धनचातुरीभिः तत्रालौकिकत्वप्राप्तेः ।'[2]

सैद्धान्तिक दृष्टि अनाविल होने पर भी विद्याभूषण के चिन्तन में रस की अलौकिकता तथा विभावों के साधारण्य के पौर्वापर्यक्रम का कोई स्पष्ट विवेक लक्षित नहीं होता । अपरिज्ञात विशेष से उनका आशय दमयन्ती आदि का कामिनी रूप में उपस्थित होना है । स्थायी भावादि प्रमाता के ममत्व परत्वादि के सम्बन्ध विशेष से विच्छिन्न हो जाते हैं तथा असाधारणता से मुक्त होकर साधारणीकृत प्रतीत होते हैं । प्रमाता भी स्व-परभाव से मुक्त होकर आश्रय से अभेद स्थापित करता है । इस संदर्भ में कृष्णानन्द की टिप्पणी है—

'अपरिज्ञातो विशेषो दमयन्तीत्वादिर्येषाम्, स्फुरन्ति कामिनीत्वादिसामान्येनेत्यर्थः ।'[3]

१. वही, पृ० वही

२. सा० कौ० पृ० ३०

३. सा० कौ० पृ० ३०

कहने का आशय यह है कि विद्याभूषण ने भट्टनायक से लेकर विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों की अवधारणाओं को संयोजित करने की चेष्टा की है। प्रमाता स्व-पर-भाव से मुक्त होकर आश्रय से अभेद स्थापित करता है। **यस्मन्नृणामपि अब्धिलंघनादौ प्रवृत्तिः सभ्यानां।**"[1] इस प्रकार उनके विवेचन में विभावादि का निर्विशेषत्व, सम्बन्ध का स्वीकार-परिहार, प्रमाता के परिमित भाव का उन्मोचन तथा आश्रय से अभेद आदि के विविध सूत्र अन्तर्ग्रथित हो गये हैं।[2]

चिरंजीव भट्टाचार्य (१८वीं शती का प्रारम्भ) काव्यविलास (रचनाकाल १७०३)

काव्यशास्त्रीय परिवेश अकस्मात् परिवर्तित नहीं होता, किन्तु काव्यगत मान्यताओं में व्यापक स्तर पर एक सुनिश्चित परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं होता, इसका सम्बन्ध ऐतिहासिक संदर्भ से है। संस्कृत काव्यशास्त्र की मान्यताओं के वस्तुनिष्ठ स्तर पर स्थापित हो जाने के अनन्तर सहृदय की मानसिकता तत्कालीन परिवेश में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होती गई। अतः काव्य-लक्षण अथवा रस-लक्षण में सहृदय की रसज्ञ चेतना का समावेश करना आवश्यक हो गया है। चमत्कार की सूक्ष्म भंगिमाओं के मर्मज्ञों के अभाव में रसमय काव्य का अस्तित्व निरर्थक उद्घोषित किया गया। 'काव्यविलास' काव्य-चमत्कार के अभिज्ञों की उपस्थिति में ही काव्यानुभूति को प्रासंगिक मानता है।[3] इस संदर्भ में **अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः** की परम्परा को आगे बढ़ाने में ही इस कृति का योगदान है। इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक ने रस-शास्त्र की अन्य समस्याओं पर विचार नहीं किया गया है, उसने माया रस के सम्बन्ध

---

१. वही

२. 'स्थाय्यनुभावादीनां सम्बन्धिविशेषानवच्छेदः। तेन ममैव न ममैवेति परस्य न परस्येति असाधारण्यं विहाय सर्वसाधारण्येन स्थायि भावाद्याः प्रतीयन्ते।'[4] (वही)

३. सत्यपि च रसादौ विना विलक्षणचमत्कारमभिज्ञानानां काव्यमिदमिति न प्रतीतिरपि इति।

(काव्य-विलास (सरस्वती-भवन, वाराणसी-१९२५) पृ० ३)

में एक बड़ी सार्थक टिप्पणी की है—माया अनादि है, किन्तु मिथ्या ज्ञान की प्रेरिका है, जबकि रस साक्षात् ब्रह्मास्वाद सहोदर है, अतः आनन्दस्वरूप रस का माया के साथ सामंजस्य असंगत है।[1] इस संदर्भ में पण्डितराज जगन्नाथ के भावना दोष का स्मरण आना स्वाभाविक है। साधारणीकरण में मिथ्या ज्ञान का तिरोधान आवश्यक है। किन्तु भावना-दोष मूलतः ज्ञान के तिरोधान पर अवलंबित है। अतः दोनों के सामंजस्य में तार्किक असंगति प्रतीत हो सकती है, किन्तु भट्टाचार्य ने मतभेद की सक्रियता को साधारणीकरण जैसे तार्किक विवेचन की ओर उन्मुख नहीं किया है।

पं० छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर (२०वीं शती ई०)
साहित्यबिन्दु (संवत् १९८२)

यह साहित्य-शास्त्र विषयक लक्षण-परिचायक सामान्य ग्रन्थ है, जिसमें लौकिक कारणों तथा अलौकिक विभावों के अन्तः सम्बन्ध का परम्परित उल्लेख है।[2] आस्था उनकी अभिनव की अवधारणा में है,[3] अतः शंकुक तथा भट्टनायक के अभिमतों को वे ग्राह्य नहीं मानते। शंकुक का मत इस कारण दोषपूर्ण है कि लोकप्रसिद्धि में प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कारपूर्ण होता है।[4] भट्टनायक के मत को वे सांख्य दर्शन पर आधृत मानकर उसकी सांख्य-रीति से व्याख्या करते हैं तथा अपूर्व भोज्य-भोजक-भाव रूप दो व्यापारों की कल्पना को प्रमाणाभाव के कारण दोषपूर्ण मानते हैं।[5]

---

१. वस्तुतस्तु आलंकारिकाणां मते रसो नित्य आनन्दस्वरूपः।
अतस्तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन मायाया रसत्वाऽसंभवः॥
(वही)

२. ये नाम लोके रामादिगत इतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयः त एव काव्ये नाटके च निबद्धा सन्तो विभावाः कथ्यन्ते। (पृ० ६२)

३. अनवद्यमेतन्मतम् (पृ० ५९)

४. प्रत्यक्षमेव ज्ञानं चमत्कारजनकं नानुमित्यादिकमिति लोकप्रसिद्ध्यात्रापि दोषः (पृ० ५९)

५. सांख्यरीत्या भट्टनायकमते विभावादिभिः संयोगात् भोज्य-भोजक-भाव रूपात् सम्बधात् रसस्य निष्पतिर्भुक्तिरिति अपूर्वभोज्यभोजकभावरूप व्यापारकद्वयल्पने मानाभावोऽत्रापि दूषकः। (पृ० ५९)

चर्वणा की व्युत्पत्ति में वे अवश्य राग को ही नहीं, विवेक को भी स्थान देते हैं। 'चर्वणा काव्यार्थज्ञानजन्य स्वादः' किन्तु दृष्टि उनकी आदर्शीकृत और आत्म-निष्ठ ही है। वे आस्वाद को पदार्थ नहीं अनुभूति मानते हैं तथा उसे परब्रह्मास्वाद से भी विलक्षण आनुभूतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं। **स च परब्रह्मास्वाद समाधेरपि विलक्षणः।**

हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्र) भक्तिरसार्णव (२०२५)

भक्ति रसार्णव में साधारणीकरण का विवेचन मूलतः लोकोन्तर आलम्बन के लौकिकीकरण (सामान्यीकरण) की समस्या से उभरता है।[1] यदि कवि-दृष्टि अथवा काव्य के मूल संदर्भ में कृष्णादि के विलक्षण अलौकिक चरित में लौकिकता की सामान्य भावना का स्पर्श नहीं है तो स्पष्टतः प्रमातृगत अनुभूति के स्तर पर उसका लौकिकीकरण अन्तर्विरोध को जन्म देगा।[2] आश्रय (अनुकार्य) एवं सामाजिक में स्थायी की भिन्नता सामान्यीकरण में बाधक होगी। आश्रय निर्विशेष के सर्वगतत्व की अवधारणा भी इसका पूर्ण समाधान नहीं है। स्थायी के निर्विशेषत्व और आश्रय के साथ सामाजिक के साधारणीकरण की प्रक्रिया समानान्तर रूप से गतिशील रहती है। इस क्रम में पूर्व पक्ष में वे काव्य-प्रभाव एवं कवि को अनुभूति से प्रमाता के तादात्म्य स्थापन का भी उल्लेख करते हैं।[3] एक अन्य अभिमत के अनुसार काव्य के द्वारा कवि प्रमाता के सुप्त भावावेगों को उद्‌बुद्ध करता है। सहृदय भी लौकिक भूमिका से ऊपर उठकर कवि-वर्णित भावों के साथ ऐक्य का अनुभव करता है[4]। वस्तुतः विभावादि भावोद्‌बोधन के स्थूल माध्यम

---

१. किमसामान्यस्य लोकोत्तरस्य विभावादेः सामान्यीकरणम् लौकिकीकरणमेव साधारणीकरणम्, किं वा व्यक्तिविशेषगतस्य आश्रयनिर्विशेष भावापादनेन सर्वगतत्वापादनं वा ?

(भक्तिरसार्णवः पृ० ६६)

२. तस्य लौकिकत्वापादनं दूषणमेव (वही)

३. तच्छ्रोतुर्द्रष्टुश्च काव्यप्रभावेण कवयितुः भावेन तादात्म्यं साधारणीकरणम्। (वही, पृ० ६७)

४. काव्यादिद्वारेण कविस्तांस्तान् भावान् प्रस्तुवन सहृदयानां सुप्तं भावलोकं

मात्र है। आग्नेय उपकरणों की भाँति उनकी स्थूल सत्ता है किन्तु जैसे अग्नि की निष्पन्न में स्थिति दाह की संवेदना मात्र शेष रह जाती है वैसे ही रसानुभूति के चरम क्षण में प्रमाता व्यक्ति विशेष के सम्बंधों के विलुप्त हो जाने से अनुभूति मात्र रह जाता है। अस्तु, करपात्र जी साधारणीकरण की जिस लोकोत्तर अवधारणा को रेखांकित करते हैं वह विभिन्न अन्तर्दृष्टियों की समन्वित भूमिका है। प्रमाता एक स्तर पर कवि अथवा विभावादि से भाव-तादात्म्य स्थापित करता है और दूसरे स्तर पर अनुभोक्ता और अनुभूयमान के भेद को समाप्त कर वह अनुभूति मात्र अविशिष्ट रह जाता है।[1] स्पष्टत: पूर्व पक्ष के स्तर पर हिन्दी के आधुनिक आलोचकों की अन्तर्दृष्टियों को उद्धृत कर उत्तर पक्ष में उनकी संगति बैठाने का यह शास्त्रीय अनुरोध है।

रेवाप्रसाद द्विवेदी काव्यालंकारकारिका (अभिनवं काव्य-शास्त्रम्) १९७७ ई०

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने की अपेक्षा नव्य समीक्षा से प्रेरित उस चिन्तन को गति दी है, जिसमें काव्य की सर्जन-प्रक्रिया अथवा सहृदय-निष्ठ रसानुभूति के विश्लेषण की अपेक्षा अभिव्यंजना-पक्ष को केन्द्र में रख कर ही काव्य की स्वायत्त चेतना के विश्लेषण का आग्रह व्यक्त किया गया है। उनका कथन है कि रस मूलत: सामाजिक-निष्ठ होने के कारण काव्य के परिकर वृत्त में नहीं आता, वह तो सामाजिक-की आत्मा में काव्यानुशीलनजन्य अनुभूति विशेष है।[2] अत: अलंकार ही काव्य के शरीर में उपस्थित होने के कारण काव्य है।[3] काव्य की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि काव्य कवि तथा सहृदय के मध्य में सम्प्रेषण की वस्तु-

---

क्षोभयति। उद्बुद्धेषु भावेषु श्रोत्रारोऽपहाय इमं लोकं शुद्धचैतन्यात्मके भावजगति वर्तमाना: कविवर्णितैर्भावै: सह साधारणीकरणख्यम् ऐक्य-मनुभवन्ति। (वही, पृ० ६८)

१. कवेर्भावेन विभावादीनाश्च भावेन ऐक्यमापन्न सामाजिकभावो विग-लितप्रमातृप्रमेयादिभेदसाधारण्यमुपयाति। (वही,)

२. रस: सामाजिकनिष्ठ इति न काव्यनिष्ठ इति न स: काव्यात्मा।
अतस्स्थितस्य तवात्मतयाऽभ्युषगमे सुरसास्यायेतानवस्था।
(काव्यलंकारकारिका संस्तव: पृ० १७)

३. काव्येऽलंकार एवात्मा स एवास्मिन् स्थितो यत:। (का० २६ पृ० ५९)

निष्ठ स्थिति है जो संज्ञानात्मक चमत्कार को उद्बुद्ध करती है।[1] आशय यह है कि रस कविता का सामाजिक के चित्त में सम्प्रेषित प्रभाव मात्र है। काव्य का मौलिक धर्म नहीं है।[2] कविता तथा सामाजिक, दोनों का भिन्न अस्तित्व है, अतः प्रमाता एवं प्रमेय के भिन्न होने के कारण प्रमातृगत अनुभूति को काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता।[3] रस की मूल चेतना के संदर्भ में डा० द्विवेदी ने साधारणीकरण की सत्ता भी स्वीकार की है।[4] काव्य तथा अभिनय के द्वारा जब रस नामक सारभूत प्रभाव प्रमाता तक सम्प्रेषणीय बनता है, तो काव्यवस्तु तथा सामाजिक, दोनों के ही वैशिष्ट्य का तिरोधान हो जाता है। अतः सामाजिकनिष्ठ स्थायी निर्विशेष भाव से काव्यनिष्ठ भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा साधारणीकृत (निर्विशेष) विभावों का आस्वादन करता है। आशय यह है कि यह निर्विशेषत्व सहृदय तथा काव्य-वस्तु, दोनों स्तरों पर घटित होता है।[5]

रमेशचन्द्र शुक्ल : रसदर्शन (१९८३ ई०)

आधुनिक जीवन एवं साहित्य की कलात्मक संभावनाओं एवं पूर्व-प्रतिष्ठापित रस-मूल्यों की समानान्तर व्याख्या एक सीमा तक 'रसदर्शन' की प्रेरक अनुभूति रही है। तथ्य यह है कि लेखक ने सौष्ठववादी कला-मूल्यों को पूर्वाग्रहमुक्त मानववादी आधार देने का जो उपक्रम किया है[6] उस

---

१. अलंकारोऽप्यलंभावरूपो ज्ञानात्मकः परम्। (का० १२४ पृ० १८६)
२. काव्यालंकारकारिका (१६९-७०) पृ० २५६
३. प्रमेयं च प्रमाता चैत्यनयोर्भिन्नता-दृशम्।
रसः प्रमातृ-मात्रैकनिष्ठोऽलंकरणं च नः। (का० १७४-७७)
४. रसो नाम काव्याभिनयान्यतरोपस्थापितानामपहृतविशेषाणामत एव चापहृतविशेषस्य।
५. अपहृतविशेषत्वं नाम साधारण्यं······असाधारण्यनिरासरूपोभयाभावस्व-रूपम्। (वही, पृ० ३८)
६. सत्यता सौन्दर्यमस्ति, सदाचारः सौंदर्यमस्ति - सौंदर्यमेव जीवनम् प्रेक्षकं सौंदर्यं नन्दयति। तद् आनन्दाह्लादात्मभावलोकोन्तरैवयानि मनसि समुत्पाद्य सर्वेभ्योऽपि विषयेभ्यो मानवं परावर्तयति। मानवस्तदा यामनिवर्चनीयां प्रीतिप्रदां स्थितिमनु भवति सा असाधारणी स्थिति रस इति व्यवह्रियते। (पृ० ९)

में मानव-वासना के उन्नयन की वे भूमिकाएँ बराबर उद्घाटित हुई हैं जिनका विरोध न प्राचीन आध्यात्मिक, नैतिक (शिव) दृष्टि से है और न लोक सामान्य भाव-भूमि की आधुनिक समाज शास्त्रीय व्याख्या से।[1] दोनों के समन्वय से तदाकारता, तादात्म्य एवं आत्म-विस्मृति की परम्परित रस दृष्टि भी उभरी है और आत्मान्वेषण की नवीन अस्तित्ववादी व्याख्या भी। रसानुभूति के क्षण में सहृदय अपनी अस्मिता का लोप नहीं करता अपितु अपने आन्तरिक यथार्थ का अन्वेषण करता है। **न तदा रसानुभूतिकाले रसज्ञः स्वत्वाद् भ्रंशति अपितु तदा सः स्वकीयं यथार्थं रूपम् पश्यति।**[2]

दूसरी स्थिति योग जैसी तन्मयता एवं तदाकारता की है। यहाँ सनातन भावबोध की वही मुद्रा है जिसमें रसास्वादन के क्षण में योगिकल्प प्रमाता द्रष्टा एवं द्रष्टव्य का भेद विस्मृत कर बैठता है। **रसानुभूतिकाले द्रष्ट-द्रष्टव्यस्य योगिनः स्थितिमिव सहृदयः परिगृह्णाति स तदनुभवानेहसि किं वा तदास्वादनसमये कोऽहम् क्वाहमित्येदपि सर्वं विस्मरति?** डा० शुक्ल के अनुसार रसास्वादन के केन्द्र में साधारण व्यापार है[3] और यह साधारण्य मूलतः प्रमाता प्रमेय की अभेदानुभूति के स्तर पर घटित होता है। इसी निकर्ष पर उन्होंने भक्ति रस में साधारणीकरण की व्यापकतर संभावना में आस्था व्यक्त की है, जिसकी भंगिमा अनौपचारिक एवं एक सीमा तक स्थूल एवं बहिरंग है। उसमें रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती या हरिहरानन्द सरस्वती करपात्र जैसी आन्तरिक तर्कसंगति का विकास नहीं है। एक आध्यात्मिक अनुभूति से जुड़े रहने की स्थिति को संचेतना के स्तर पर रेखांकित भर कर दिया गया है। भक्ति-स्तोत्रों के श्रवण से आत्म विस्मृत हो परमात्मा में लीन होकर भक्त साधारणीकृत स्थिति में पहुंच जाता है[4] यह स्थिति का अति सरलीकरण है इस की विप्रतिपत्तियों का विवेचन 'उक्त

---

१. द्र० पृ० २९-३०

२. पृ०

३. अस्मदीया रसचेतनायाः साधारणो व्यापारो रसास्वादनम् इति नाम्ना प्रथते। (पृ० १५)

४. ...मानवः कोऽहं क्वाहमित्येतदादिकं सर्वं विस्मृत्य परमात्मनि निलीयमान इव जायते सोऽपि समाधि स्थस्य योगिनोऽवस्थां प्रपद्यते। एतद् विधं यद् साधारणीकरण मस्ति यद् तदेवं वर्तते यद् वीरशृंगार करुणादिभिः० सञ्जायते। (पृ० ६५)

आचार्यों के प्रसंग में हमने अन्यत्र किया है। अतः उनका यह अभिमत कि भक्त और भगवान् के मध्य एकत्व की अनुभूति साधारणीकरण से अभिन्न है[1], शब्दार्थमयी सृष्टि में घटित होने वाले साधारणीकरण की यथार्थ व्याख्या नहीं है। वस्तुतः भक्ति एवं शृंगार के सूक्ष्म, प्रबल अथवा प्रखर संवेदनों की काव्येतर एवं काव्यानुभूति में गुणात्मक अन्तर है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि लेखक ने साधारणीकरण की शास्त्रीय अवधारणा से प्रभावित जिस व्यावहारिक दृष्टि का विकास किया है उसे केन्द्रीय संवेदना से समीकृत नहीं किया जा सका है। यथा अभिनेता की अभिनेय पात्रों से तदाकारिता की अनुभूति, देशकालातीत चेतना की वर्त्तमान में परिणति, तथा करुणादि भावों का सुखात्मक अनुभूति में पर्यवसान इत्यादि के जिन अनुषंगों को साधारणीकरणों के पर्यायरूप में[2] यहाँ ग्रहण किया गया है, वे स्थितिविशेष की व्यावहारिक स्वीकृतियाँ है।[3] उनमें कवि के अन्वेषित सत्य तथा पात्रों की आभ्यन्तर प्रतीति एवं वैशिष्ट्य के बिन्दुओं पर इस अवधारणा को ग्रहण करने की आलोचकीय निष्ठा लक्षित नहीं होती यथा काव्ये सीतारामादीना······येषामभिनयं नटः कुरुते दर्शनकाले द्रष्टा अहं काव्याध्येता वा नाटकस्य द्रष्टाऽस्मिन्······इत्यादिकं सर्वं विस्मृत्य लोकोत्तरैक्यविषयकानन्दे निलीयते—इदं हि दिव्यमैक्यं साधारणीकरणमिति परिभाषितम्। फिर भी लेखक ने साधारणीकरण को मूलतः तादात्म्य-स्थिति के जिस स्तर पर स्वीकार किया है उसमें सामाजिक की स्वकीय परकीय भावना का लोप ही नहीं होता वह स्वार्थ सम्बन्धों की संकीर्ण भूमि से ऊपर भी उठता है।[4] यह दृष्टि लोकमंगलवादी अवधारणा की स्वाभाविक परिणति है।

उत्तर प्रदेश संस्कृत अ... पुस्तकालय ग्रन्थ आ० सं० 8406

---

१. भक्त्या यद् भक्तभगवतोर्मध्ये एकत्वं किंवा साधारण्यं—साधारणीकरणत्वमुद्भवति तस्मिन्नुदिते सति भक्तो यमानन्दं विन्दति स आनन्दः शृंगारादिरसजनितमानन्दं मलिनीकरोति। (वही पृ० ६५)

२. सर्वं देशकालबधनादपि मुक्तं भूत्वा वर्तमान एवातरति। (पृ० ४४)
एतत् साधारणीकरण भयं भयात् शोकं शोकाद् दूरी करोति।
(पृ० ४४)

३. पृ० १०३

४. साधारणीकरणप्रभावात् सहृदयश्चापि निजत्वपरत्वपरकप्रतीति धरातलादुत्थितो भूत्वा···परित्यज्य ततोऽप्युपरिस्थं धरातलं संसेधते। (पृ० ४४)